खंड 2
अवधारणाएँ

खंड 2 अवधारणाएँ

खंड 2 में चार इकाइयाँ है, जो राजनीति विज्ञान में स्वतंत्रता, समानता, न्याय और अधिकारों के मूल्यों से संबंधित है। **इकाई 3**, स्वतंत्रता की संकल्पना पर प्रकाश डालती है, जो कि फ्रांसीसी क्रांति के तीन प्रश्नादर्शों–समानता, न्याय और स्वतंत्रता में से एक है, उदारवाद का स्वतंत्रता पर स्पष्ट जोर है तथा जॉन लॉक ने स्वतंत्रता का नकारात्मक दृष्टिकोण दिया। 20वीं सदी में जे एस मिल, टी एच ग्रीन एवं अन्य ने लेखों के माध्यम से सकारात्मक स्वतंत्रता की वकालत की, तब से यह संकल्पना एक लम्बा सफर तय कर चुकी है। प्रश्नाइज़िया बर्लिन द्वारा एक प्रश्नलग व्याख्या दी गई, जिन्होंने स्वतंत्रता के नकारात्मक एवं सकारात्मक विचारों में सामंजस्य बनाने की कोशिश की। **इकाई 4**, समानता की अवधारणा के बारे में है, जिसे प्रश्नाधुनिक समाज में दो रूपों में स्थापित किया गया है। पहली है लोकतांत्रिक नागकिता की समानता तथा दूसरी है स्थिति की समानता। लोकतांत्रिक नागकिता की समानता मुख्य रूप से उन बुनियादी अधिकारों से संबंधित है, जिसका सभी समान रूप से उपयोग कर सकते है, जैसे–वोट का अधिकार, स्वतंत्रता का अधिकार इत्यादि। हालांकि, विभिन्न व्यक्तियों के बीच सामाजिक असमानता की भरपाई के लिए पर्याप्त समानता की आवश्यकता है, ताकि स्थिति की समानता भी हो। **इकाई 5**, न्याय के विषय में विचारों को उजागर करती है, एक मानकीय अवधारणा जो स्वतंत्रता एवं समानता के साथ एकीकृत रूप से जुड़ी हुई है। यह वितरणात्मक, प्रक्रियात्मक, सामंजस्यपूर्णात्मक या सामाजिक हो सकती है। इस इकाई में इन सभी पहलुओं की चर्चा के साथ जॉन रॉल्स के विचारों का भी प्रश्नलग से वर्णन किया गया है। **इकाई 6** में अधिकारों की अवधारणा, उसके सिद्धांतों एवं मानव अधिकारों के विचार को शामिल किया गया है।

इकाई 3 स्वतंत्रता*

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

3.1 परिचय

3.2 स्वतंत्रता का अर्थ तथा प्रकार

3.3 स्वतंत्रता पर जे एस मिल की धारणा

3.4 ईसाइया बर्लिन तथा 'टू कॉन्सेप्ट्स ऑफ लिबर्टी'

3.5 मार्क्सवादी समालोचना तथा स्वतंत्रता का विचार

3.6 स्वतंत्रता पर अन्य सामयिक विचार

3.7 सारांश

3.8 संदर्भ

3.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

3.1 उद्देश्य

स्वतंत्रता को आधुनिक राजनीतिक व सामाजिक सिद्धांत में एक सबसे महत्त्वपूर्ण संकल्पना तथा एक बुनियादी लोकतांत्रिक मूल्य माना जाता है। स्वतंत्रता की धारणा का जन्म आधुनिक सभ्य समाज एवं राजनीतिक प्राधिकार की रचना के प्रसंग में ही हुआ। यद्यपि यह अवधारणा उदारवादी सोच से जुड़ी हुई है, उदारवादियों ने इस धारणा पर विभिन्न तरीकों से दृष्टिपात किया है। मार्क्सवादीजन स्वतंत्रता-संबंधी उदारवादी धारणाओं की आलोचना करते हैं और व्यक्ति व समाज संबंधी नितान्त भिन्न मान्यताओं पर इस अवधारणा को दोबारा गढ़ते हैं। इस इकाई में हम स्वतंत्रता विषयक विभिन्न पहलुओं पर नज़र डालेंगे, और इस धारणा के अर्थ, औचित्यों एवं सीमाओं को समझने का प्रयास करेंगे।

3.1 परिचय

स्वतंत्रता की अवधारणा उदारवादी विचारधारा कामूल भाव है. जो सामान्यतौर पर 'नियंत्रण-अभाव के रूप में समझी जाती है। स्वतंत्रता-संबंधी धारणा आधुनिक यूरोप में नए सामाजिक-आर्थिक व राजनीतिक संबंधों की स्थापना के प्रसंग में जन्मी। उक्त धारणा के मूल में तर्कसंगत निर्णयों को लेने में सक्षम, एक समझदार व्यक्ति का विचारथा। यह विवेकी व्यक्ति, यह सोचा गया, आत्म-निर्णय में सक्षम था; दूसरे शब्दों में, व्यक्ति उन निर्णयों को लेने में सक्षम था जो स्वयं उससे संबंध रखते थे। अपनी क्षमताओं को विकसित करने के लिए, व्यक्ति को सभी प्रकार के सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक नियंत्रणों से मुक्ति चाहिए थी।

इस प्रकार, स्वतंत्रता की धारणा का विकास नियंत्रण-अभाव अथवा व्यक्ति की स्वायत्तता-क्षेत्र के रूप में हुआ। साथ ही, तथापि, इस तथ्य को कि एक सामाजिक संगठन के भीतर व्यक्ति अकेला नहीं है और अन्य व्यक्तियों के साथ संबंध में ही अस्तित्व रखता है, इस बात की अपेक्षा थी कि स्वायत्तता संबंधी उनके क्षेत्रों पर अन्य व्यक्तियों का समान ही अधिकार

*डॉ. (श्रीमती) अनुपमा रॉय, महिला विकास अध्ययन केन्द्र, नई दिल्ली

होना चाहिए। इस लिहाज से कि स्वायत्तता हेतु सभी व्यक्तियों द्वारा अपने-अपने दावेन्यूनतम विवाद के साथ स्पष्टतया अनुभव किए जा सकें, यह अनिवार्य था कि नियंत्रणों एवं नियमतीकरण संबंधी एक व्यवस्था बनायी जाए और हर एक द्वारा उसका अनुपालन किया जाये। हॉब्स, लॉक एवं रूसो जैसे दार्शनिकों द्वारा प्रस्तुत सामाजिक संविदा संबंधी सिद्धांतों ने नियंत्रणों की अविद्यमानता के रूप में स्वतंत्रता की धारणा सामने रखी। उसी के साथ, उन्होंने उस ढाँचे का प्रस्ताव भी रखा जिसके भीतर वैयक्तिक स्वतंत्रता प्रकट होनी थी। तदनुसार, राजनीतिक समुदाय का विचार व्यक्तियों की क्षमताओं व स्वायत्तता तथा उन आदेशों की एक समकालिक मान्यता पर आधारित था कि सभी व्यक्ति अपनी स्वतंत्रता पर नियंत्रणों की एक सर्वमान्य श्रृंखला के अधीन होने चाहिए।

तदनुसार, यह बोध अवश्य होना चाहिए कि स्वतंत्रता, जिसका आम समझ में मतलब है स्वच्छंदता अथवा वैयक्तिक कर्म हेतु नियंत्रणों एवं अवरोधों का अभाव, तथा जिसको एक लोकतांत्रिक आदर्श माना जाता है, हमेशा सामाजिक संबंधों में एक विशिष्ट नियंत्रण-श्रृंखला के भीतर जहाँ-तहाँ पाये जाने के रूप में प्रतिपादित किया गया है। आधुनिक लोकतांत्रिक समाजों में स्वतंत्रता के स्वीकार्य रूपों में जिसे देखा जाता है, उसके लिए हमेशा सीमायें रही हैं। आगामी भाग में, हम स्वतंत्रता के तत्त्वों तथा उक्त विषयक अवरोधों हेतु औचित्यों पर ध्यान केन्द्रित करते हुए, स्वतंत्रता के अर्थ पर दृष्टि डालेंगे।

3.2 स्वतंत्रता का अर्थ तथा प्रकार

स्वतंत्रता का अर्थ है नियंत्रणों से मुक्ति, अथवा उनका अभाव। किसी व्यक्ति को मुक्त अथवा कुछ करने में स्वतंत्र माना जा सकता है, जब उसके कार्य अथवा विकल्प दूसरे के कार्यों अथवा विकल्पों द्वारा बाधित अथवा अवरुद्ध न हों। यह समझना आवश्यक है कि अवरोधों का अभिप्राय राजनीतिक व अन्य प्राधिकरणों द्वारा डाली गई अड़चनों से है। तदनुसार, कारावास, दासत्व या गुलामी, कानूनों का अधीनीकरण, आदि को पराधीनता अथवा स्वतंत्रता के अभाव की दशाओं के रूप में देखा जा सकता है।

जबकि कारावास अथवा कानून-अधीनीकरण जैसी पराधीनता-संबंधी दशाएँ स्वतंत्रता पर अवरोधों के रूप में प्रतीत हो सकती हैं, हम जानते हैं कि आधुनिक लोकतांत्रिक सामाजिक व राजनीतिक संगठन विधिसंगत एवं संस्थागत संरचनाओं पर आधारित हैं, जो कि हर व्यक्ति की स्वतंत्रता के समान महत्त्व को सुनिश्चित करने पर अभिलक्षित हैं। किसी भी समाज के पास, इसी कारण, कोई असीमित 'स्वतंत्रता-संबंधी अधिकार' नहीं होगा। हर समाज के पास स्वतंत्रता विषयक प्रतिबंधों की एक श्रृंखला होगी, जो कि इस आधार पर न्यायसंगत हैं कि लोग इन प्रतिबंधों को यह मानकर स्वीकार करतें हैं कि स्वतंत्रता का अधिकतम विकास करने के लिए ये सर्वश्रेष्ठ परिस्थितियां है।'नियंत्रण-अभाव' अथवा 'बाह्य अवरोधों का अभाव' के रूप में स्वततंत्रता-बोध का आमतौर पर निषेधात्मक के रूप में वर्णन किया जाता है। स्वतंत्रता का 'नकारात्मक' प्रभाव दो भिन्न अर्थों में दिखाई पड़ता है :

अ) पहले अर्थ में, कानून को स्वतंत्रता के मुख्य अवरोध के रूप में देखा जाता है। हॉब्स ने, उदाहरण के लिए, स्वतंत्रता का वर्णन 'कानूनों की खामोशी' के रूप में किया। इस प्रकार का दृष्टिकोण स्वतंत्रता को उन कामों से जोड़ते हैं, जिसे करने से अन्य जन लोगों को सोच-समझकर रोकते हैं। यह बोध, इसी कारण,कानून व सरकार दोनों को एक निश्चित सीमा में रहनें के लिए कहता है। जॉनलॉक जैसे दार्शनिकों ने, हालाँकि, इशारा किया कि स्वतंत्रता हेतु किसी वचनबद्धता का अर्थ यह नहीं है कि कानून को समाप्त कर दिया जाए। इसकी बजाय, इसका अर्थ है कि कानून किसी की स्वतंत्रता

को दूसरों के अतिक्रमण से बचाने तक सीमित रहना चाहिए। लॉक ने, इसी कारण, यह पेशकश की कि कानून स्वतंत्रता को सीमाबद्ध नहीं करता, बल्कि उसे वह बढ़ाता है व उसकी रक्षा करता है।

ब) दूसरा दृष्टिकोण स्वतंत्रता को 'विकल्प की स्वतंत्रता' के रूप में देखता है। मिल्टन फ्रीडमैन, उदाहरण के लिए, अपनी पुस्तक *कैपिटलिज़्म एण्ड फ्रीडम* (1962) में कहते हैं कि 'आर्थिक स्वतंत्रता' में शामिल है बाज़ार-व्यवस्था में चुनने की आज़ादी –उपभोक्ता को यह चुनने की आज़ादी कि वह क्या खरीदे, कर्मचारी को यह आज़ादी कि वह अपनी नौकरी अथवा पेशे को चुने और उत्पादक को यह आज़ादी कि वह क्याउत्पादन करे और किसे रोज़गार दे। 'चुनने' का अर्थ है कि व्यक्ति विभिन्न विकल्पों में से बेरोकटोक और स्वैच्छिक चुनाव कर सके।

स्वतंत्रता के विषय में बात करते हुए प्रायः उसकी नकारात्मक व सकारात्मक धारणाओं के बीच भेद किया जाता है, यथा 'बाह्य अवरोधों का अभाव' तथा 'समर्थ करने वाली अथवा मदद करनेवाली दशाओं की विद्यमानता' के बीच। अन्य शब्दों में, कुछ 'करने की आज़ादी' तथा वस्तुतः उसे करने में सक्षम होने के बीच अंतर कुछ करने के लिए स्वाधीन अथवा स्वतंत्र होने को उसे करने से रोका अथवा बचाया जाना नहीं है। जबकि कुछ करने में समर्थ होने हेतु वित्तीय अथवा अन्य क्षमता रखना है। उदाहरण के लिए कोई व्यक्ति किसी भी नौकरी को करने के लिए स्वतंत्र हो सकता है, फिर भी, हो सकता है व्यक्ति के पास वे योग्यताएँ अथवा आर्थिक संसाधन न हों जो उसकी उम्मीदवारी को सार्थक बना सकें। राजनीतिक वैज्ञानिक साधारणतः नियंत्रण-अभाव के रूप में स्वतंत्रता तथा उन दशाओं के बीच भेद करते हैं, जो स्वतंत्रता को सार्थक बनाते हैं। एक भूखा मरता आदमी जो एक महँगे रेस्तराँ में खाने के लिए कानूनन स्वतंत्र है (उसे कोई रोक नहीं है), दरअसल कानूनी स्वतंत्रता के आधार पर किसी भी अधिकार का प्रयोग नहीं कर सकता। इस उदाहरण में खाने की स्वतंत्रता को साकार करने के लिए राज्य द्वारा किसी सकारात्मक कार्यवाही की अपेक्षा होगी। यही वह तर्क है जो व्यक्तियों के लिए अवसर बढ़ाने हेतु बनाये गए सामाजिक विधान को सही ठहराने के लिए प्रयोग किया जाता है। ऐसी सकारात्मक कार्यवाही से राज्य के बारे में कहा जाता है कि न सिर्फ़ असमानता घटायेगा, बल्कि स्वतंत्रता भी बढ़ायेगा।

स्वतंत्रता संबंधी नकारात्मक संकल्पना अंग्रेज़ी, राजनीतिक विचार–सूत्र का लक्षण है, जिसका प्रतिनिधित्व जैरेमी बैन्थम, जेम्स मिल, जॉन स्टुअर्ट मिल, हैनरी सिगविक, हर्बर्ट स्पैन्सर एवं उन सैद्धान्तिक व नव-सैद्धान्तिक अर्थशास्त्रियों ने किया, जिन्होंने मनमानी सरकार के अनावश्यक नियंत्रणों से मुक्ति पाने के लिए लोगों के दावों का समर्थन किया। नकारात्मक स्वतंत्रता का मुख्य स्वयं सिद्ध सत्य था कि 'हर व्यक्ति अपने हित को सबसे अच्छी तरह जानता है' और राज्य को लोगों के साधन व प्रयोजन तय नहीं करने चाहिए। इस सिद्धांत के लिए अनिवार्य है अनुबन्ध की पवित्रता (sanctity)। पवित्रता संबंधी इस मान्यता में अन्तर्निहित थी यह समझ कि किसी अनुबन्ध में शामिल होने की कार्यवाही, चाहे वह अनुबंध-शर्तें वैयक्तिक स्वतंत्रता में बाधक हों फिर भी वह एक स्वतंत्रता-संबंधी, अभिव्यक्ति थी। इस प्रकार, इन विचारकों के लिए, किसी व्यक्ति की स्वतंत्रता एक उस क्षेत्र से संबंधित कार्य था, जिसमें उसको अकेला छोड़ दिया गया और कार्यवाही की गुणवत्ता से कोई वास्ता नहीं रखा गया। नकारात्मक स्वतंत्रता की अवधारणा स्वतंत्रता के एक अर्थ विषयक सिद्धांत के रूप में सबसे अच्छी तरह समझी जाती है। यद्यपि नकाराम्मक स्वतंत्रता की प्रायः 'भूखा मरने की आज़ादी' के रूप में निन्दा की जाती है, यह समझ कुछ-कुछ भ्रामक है। यह राज्य-हस्तक्षेप पर कोई अनिवार्यतः निषेध लागू नहीं करती, बल्कि सिर्फ़ इतना बताती है कि इसे इस आधार पर सही नहीं ठहराया जा सकता कि यह आज़ादी को बढ़ाती

है, हालाँकि इसको न्यायसंगत ठहराने के लिए असमानता के तर्क का इस्तेमाल किया जा सकता तथापि, नकारात्मक स्वतंत्रता एवं अहस्तक्षेप-सिद्धांत (*laissez-faire*) अर्थव्यवस्थाओं के बीच ऐतिहासिक संबंध से इंकार नहीं किया जा सकता, और उसके अधिकांश समर्थकों ने एक न्यूनतम राज्य का पक्ष लिया है। यह अवधारणा इस अर्थ में उदासीन है कि यह राजनीति की एक व्यापक श्रृंखला के अनुरूप है, और यह अच्छी है या नहीं की ओर संकेत किए बग़ैर स्वतंत्रता की एक दशा का वर्णन करती है।

स्वतंत्रता संबंधी नकारात्मक धारणा की आलोचना आधुनिक उदारवादियों, सामाजिक प्रजातंत्रवादियों एवं समाजवादियों की ओर से हुई है। उन्नीसवीं सदी में उदारवादियों, मुख्यतः टी एच ग्रीन व कुछ हद तक जे. एस. मिल, ने नकारात्मक स्वतंत्रता संबंधी कुछ सबसे पहली आलोचनाएँ प्रस्तुत कीं। उन्होंने महसूस किया कि पूँजीवाद ने सामंतवादी पदानुक्रमों एवं कानूनी प्रतिबंधों से छुटकारा पा लिया है (खासकर आर्थिक पेशों में), परन्तु इसने विशाल जन-साधारण को ग़रीबी, बेरोज़गारी और बीमारी के वशीभूत कर दिया है। ऐसी परिस्थितियाँ स्वतंत्रता को उतना ही बाधित करती हैं जितना जितना कि कानूनी अड़चनें तथा सामाजिक नियंत्रण।

स्वतंत्रता संबंधी सकारात्मक धारणा को अपनाने वाले प्रथम उदारवादियों में एक थे टी एच ग्रीन (1836-82), जिन्होंने स्वतंत्रता को लोगों की 'स्वयं द्वारा सबसे अधिक और सबसे अच्छा किए जाने' संबंधी योग्यता के रूप में परिभाषित किया। यह स्वतंत्रता महज अकेला छोड़ दिए जाने में ही नहीं, बल्कि काम करने की ताकत में भी निहित होती है जिसके द्वारा वह प्रत्येक व्यक्ति हेतु उपलब्ध अवसरों की ओर ध्यान ले जाती है। सकारात्मक स्वतंत्रता की अवधारणा ही कल्याणकारी राज्य का आधार रही है। इस धारणा ने राज्यों द्वारा रखे गए सामाजिक कल्याणकारी प्रावधानों के पीछे प्रेरक शक्ति के रूप में काम किया है, जिसके द्वारा स्वतंत्रता समानता से जुड़ गयी।

बोध प्रश्न 1

नोटः अ) अपने उत्तर के लिए नीचे दिये गये स्थान का उपयोग करें।

ब) अपने उत्तर को इकाई के अंत में दिये गये उत्तर से मिलायें।

1) स्वतंत्रता की सकारात्मक व नकारात्मक अवधारणाओं में अंतर स्पष्ट कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3.3 स्वतंत्रता पर जे. एस मिल की धारणा

जे एस मिल की पुस्तक *ऑन लिबर्टी* 1960 के दशक में अकादमिक बहसों में प्रभावशाली रही। मिल की पुस्तक को स्वतंत्रता-संबंधी नकारात्मक अवधारणा की एक व्याख्या के रूप में देखा जाता है। वैयक्तिक स्वतंत्रता का पक्ष लेते हुए मिल प्रथाओं और रिवाजों की तरफ अवमानना का भाव रखते थे। ऐसी भावना मिल उन सभी कानूनों और आदर्शों के लिए भी रखते थे, जिन्हें तर्कसंगत और न्यायसंगत नही कहा जा सकता था। कभी-कभी यह भी तर्क

दिया जाता है कि मिल के अनुसार कोई भी स्वतंत्र कार्य, चाहे वह कितना भी अनैतिक हो, अपने में सद्‌गुण का कुछ तत्त्व रखता है, क्योंकि वह स्वतंत्रतापूर्वक किया गया है। यद्यपि मिल ने व्यक्ति के कार्यों पर नियंत्रण को बुराई माना, उन्होंने नियंत्रणों को पूरी तरह अतर्कसंगत नहीं माना। फिर भी, उन्होंने महसूस किया कि समाज के भीतर स्वतंत्रता के पक्ष में एक परिकल्पना हमेशा रहती है। इसलिए अगर स्वतंत्रता पर कोई अवरोध लगाता है, तो उसका औचित्य भी उसी को बताना होगा।

मिल के अनुसार, स्वतंत्रता का उद्देश्य था 'व्यक्तित्व' हासिल करने को बढ़ावा देना था। व्यक्तित्व (individuality) का अभिप्राय व्यक्ति के विशिष्ट लक्षण से है, और आज़ादी का अर्थ है, इस व्यक्तित्व का बोध, यथा निजी विकास एवं आत्म-निश्चय। मनुष्यों में व्यक्त्वि के गुण ने ही उन्हें निष्क्रिय की बजाय सक्रिय बनाया, साथ ही सामाजिक व्यवहार की वर्तमान रीतियों का समालोचक भी, ताकि वे जब तक परम्पराओं को तर्कसंगत न पायें उन्हें स्वीकार न करें। मिल के तानेबाने में स्वतंत्रता इसीलिए मात्र नियंत्रण-अभाव के रूप में नहीं, बल्कि कुछ वांछित प्रवृत्तियों की सुविवेचित वृद्धि (deliberate cultivation) में नज़र आती है। यही बात है जिसके कारण मिल को अक्सर स्वतंत्रता की सकारात्मक संकल्पना की ओर आकर्षित होते देखा जाता है। स्वतंत्रता संबंधी मिल की संकल्पना का मूल विकल्प की धारणा में भी है। यह बात उनके इस विश्वास से प्रमाणित होती है कि वह व्यक्ति जो 'अपने लिए स्वयं की जीवन-योजना को चुनने' का अधिकार दूसरों को दे देता है, 'व्यक्तित्व' अथवा आत्म-निश्चय संबंधी मानसिक शक्ति नहीं दर्शाता। ऐसा लगता है कि ऐसे व्यक्ति के पास वानर की तरह नकल करने की ही क्षमता है। दूसरी ओर, वह व्यक्ति है 'जो स्वयं के लिए योजना चुनता है, अपनी सभी मानसिक शक्तियों को काम में लाता है'। अपने व्यक्तित्व को स्पष्टतया अनुभव करने के लिए, और उसके द्वारा स्वतंत्रता की स्थिति प्राप्त करने के लिए, यह आवश्यक था कि व्यक्तिजन दबावों अथवा मानदण्डों व प्रथाओं का विरोध करें जो आत्म-निश्चय में बाधक थे। मिल का, तथापि, यह विचार भी था कि विरोध करने व स्वतंत्र विकल्प चुनने की क्षमता रखने वाले लोग बहुत ही थोड़े हैं। शेष जन 'वानर की तरह नकल' में विश्वास रखने वाली विषयवस्तु हैं, जिसके द्वारा वे परतंत्रता की दशा में रहते हैं। स्वतंत्रता-संबंधी मिल की अवधारणा को इसी कारण संभ्रांतवादी के रूप में देखा जा सकता है, क्योंकि व्यक्तित्व का उपभोग मात्र एक अल्पसंख्यक वर्ग द्वारा ही किया जा सकता है, न कि व्यापक रूप से जन-साधारण द्वारा।

अन्य उदारवादियों की ही भाँति, मिल ने व्यक्ति व समाज के बीच सीमा-निर्धारण पर बल दिया। वैयक्तिक स्वतंत्रता पर तर्कसंगत अथवा न्यायोचित प्रतिबंधों के बारे में बात करते हुए, मिल ने स्वयं-संबंधी एवं अन्य-संबंधी कार्यों के बीच भेद किया, यथावे कार्य जो सिर्फ़ व्यक्ति-विशेष को प्रभावित करते थे, और वे कार्य जो आम समाज को प्रभावित करते थे। किसी व्यक्ति पर किसी प्रतिबंध अथवा हस्तक्षेप को सिर्फ़ दूसरों को नुकसान से बचाने के लिहाज से ही सही ठहराया जा सकता था। उन कार्यों के संबंध में व्यक्ति को स्वयं प्रभावित करते थे, व्यक्ति संप्रभु था। कानूनी व सामाजिक बाधाओं की ऐसी समझ यह इशारा करती है कि व्यक्ति व समाज के बीच रिश्ता 'पिता-पुत्र' का नहीं है। व्यक्ति चूँकि अपने हितों का सर्वश्रेष्ठ पारखी होता है, कानून व समाज किसी व्यक्ति के 'सर्वश्रेष्ठ हितों' को प्रोत्साहन देने के लिए हस्तक्षेप नहीं कर सकते।

इसी प्रकार, यह धारणा कि किसी कार्य पर सिर्फ़ तभी नियंत्रण लगाया जा सकता है यदि वह दूसरों को हानि पहुँचाता हो, इस धारणा को नकारता है कि कुछ कार्य अन्तर्भूत (intrinsically) रूप से अनैतिक होते हैं और इसी कारण इस बात पर ध्यान दिए बग़ैर कि वे किसी और को प्रभावित करते हैं, अवश्य ही सज़ा दी जानी चाहिए। इसके अतिरिक्त, मिल का तानाबाना 'उपयोगितावाद' को अप्रासंगिक कह कर घोषित करता है, जैसा कि

बैन्थम द्वारा कहा गया है, जो कि हस्तक्षेप को सही ठहरायेगा यदि वह आम हित को अधिकतम सीमा तक बढ़ाता है। तथापि, मिल के विचार में व्यक्तिव समाज के बीच सीमांकन कठोर नहीं है क्योंकि सभी कार्य दूसरों को किसी न किसी तरीके से प्रभावित करते ही हैं। मिल का मानना यह भी था कि उसका सिद्धांत दूसरों के आत्म-संबंधी व्यवहार की तरफ किसी नैतिक उदासीनता का धर्मोपदेश नहीं करता। साथ ही उन्होंने महसूस किया कि अनैतिक व्यवहार को हतोत्साहित करने के लिए अनुनय का प्रयोग किया जाना चाहिए। इसी तरह, मिल सामाजिक लाभ को प्रोत्साहन देने हेतु स्वतंत्रता को एक सहायक के रूप में देखते थे। यह बात विचार, चर्चा एवं अभिव्यक्ति की संपूर्ण स्वतंत्रता तथा सभा व संस्था हेतु अधिकार के लिए उसके तर्कों के विषय में खासतौर पर सही है। मिल ने महसूस किया कि खुली चर्चा पर से सभी प्रतिबन्ध हटा लिए जाने चाहिए, क्योंकि विचारों की खुली प्रतिस्पर्धा से सच्चाई उजागर होगी। यह उल्लेख किया जा सकता है कि स्वतंत्रताओं संबंधी आज की सूची में, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को शायद एक लोकतांत्रिक आदर्श के रूप में आर्थिक स्वतंत्रता की जगह अधिक महत्त्व दिया जाता है।

3.4 ईसाइया बर्लिन तथा 'टू कॉन्सेप्ट्स ऑफ लिबर्टी'

अपनी साहित्यिक रचना टू कॉन्सेप्ट्स ऑफ लिबर्टी (प्रथम प्रकाशित : 1958) में ईसाइया बर्लिन स्वतंत्रता संबंधी नकारात्मक व सकारात्मक धारणाओं के बीच सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास करते हैं। बर्लिन के अनुसार, स्वतंत्रता संबंधी 'नकारात्मक' धारणा को इस प्रश्न का जवाब देकर समझा जा सकता है : वह कौन सा क्षेत्र है जिसमें व्यक्ति अथवा व्यक्तियों के समूह को बिना दूसरों के हस्तक्षेप के काम करने की छूट दे दी जानी चाहिए। दूसरी ओर, 'सकारात्मक' अर्थ इस प्रश्न के उत्तर से सम्बन्धित है : 'नियंत्रण अथवा हस्तक्षेप का स्रोत क्या, अथवा कौन है, जो किसी व्यक्ति को उस की बजाय यह करने, अथवा बनने, को निश्चित कर सकता है?'

सकारात्मक स्वतंत्रता महज अकेले छोड़ दिए जाने के रूप में नहीं, बल्कि 'स्वयं-निपुणता' के रूप में आज़ादी की व्याख्या करती है। इस सिद्धांत में स्वयं-संबंधी एक विशेष सिद्धांत शामिल है। व्यक्तिगत विशेषता (personality) एक उच्च और एक निम्न व्यक्तित्व में विभाजित होती है। उच्च व्यक्तित्व ही किसी व्यक्ति के यथार्थ एवं युक्तिपरक दीर्घकालीन लक्ष्यों का स्रोत होता है, जबकि निम्न व्यक्तित्व उसकी उन युक्तिहीन इच्छाओं को बढ़ाता है, जो अस्थायी और अल्पकालिक प्रवृत्ति की होती हैं। कोई व्यक्ति उस हद तक ही स्वतंत्र है जहाँ तक कि उसका उच्च व्यक्तित्व उसके निम्न व्यक्तित्व के वश में है। तदनुसार, एक व्यक्ति प्रभाव न देने जाने के अर्थ में स्वतंत्र हो सकता था, परन्तु वह युक्तिहीन लालसाओं का दास ही रहता; जैसे कि एक नशेड़ी, एक शराबी अथवा एक विवशजुआरी को परतंत्र ही कहा जायेगा। इस अवधारणा का मुख्य लक्षण है, इसका खुले रूप से मूल्यांकनकारी स्वभाव, इसका प्रयोग वांछित माने जाने वाली जीवन-रीति से विशेष रूप से जुड़ा है। सकारात्मक स्वतंत्रता संबंधी धारणा में व्यक्तित्व का एक विशेष अर्थ शामिल है और वह सिर्फ़ यह मानकर नहीं चलती कि गतिविधि का एक कार्यक्षेत्र होता है, जिसकी ओर ही व्यक्ति स्वयं को लक्ष्य-निर्देशित करे। उक्त धारणा यह सुझाती है कि जब व्यक्ति लक्ष्य-निर्देशित होता है, तो वह स्वतंत्र किया जा रहा होता है। सकारात्मक स्वतंत्रता संबंधी बर्लिन की धारणा के आलोचक यह महसूस करते हैं कि सकारात्मक स्वतंत्रता में विश्वास इस धारणा को भी लेकर चलता है कि अन्य सभी मूल्य – समानता, अधिकार, न्याय आदि – उच्च स्वतंत्रता संबंधी सर्वोच्च मूल्य के मातहत हैं। इसी प्रकार, यह धारणा कि व्यक्ति के उच्च संकल्प समष्टियों, जैसे कि वर्ग, राष्ट्र व प्रजाति, के संकल्पों के अनुरूप ही होते हैं, सत्तावादी विचारधाराओं की ओर प्रवृत्त कर सकते हैं।

नोटः अ) अपने उत्तर के लिए नीचे दिये गये स्थान का उपयोग करें।

ब) अपने उत्तर को इकाई के अंत में दिये गये उत्तर से मिलायें।

1) स्वतंत्रता संबंधी जे. एस मिल के विचारों पर प्रकाश डालिए।

.....

.....

.....

.....

.....

3.5 मार्क्सवादी समालोचना तथा स्वतंत्रता का विचार

स्वतंत्रता संबंधी मार्क्सवादी संकल्पना उन उदारवादी विचारों से भिन्न है, जिनकी चर्चा पर की गई है। भिन्नता संबंधी मुख्य बातें व्यक्ति व समाज संबंधी मार्क्सवादी समझ, दोनों के बीच संबंध एवं पूँजीवादी समाज संबंधी मार्क्सवादी समीक्षा से सामने आती हैं। यद्यपि उदारवादी दृष्टिकोण व्यक्ति एवं उसकी स्वतंत्रता की केन्द्रीयता पर आधारित है, मार्क्सवादी, व्यक्ति पर आधारित स्वतंत्रता को गुलामी की तरह देखते हैं? मार्क्सवादियों के अनुसार, व्यक्ति विकल्प के स्वतंत्र प्रयोग हेतु स्वायत्त स्थानों की सीमाओं द्वारा समाज में अन्य व्यक्तियों से अच्छा नहीं है। इसकी बजाय वे परस्पर निर्भरता में एक साथ बधें हैं। व्यक्तित्व-संबंधी धारणा उसी तौर से एक धनी व्यक्तित्व-संबंधी धारणा में बदल गयी, जो कि व्यक्ति की सामाजिक संलग्नतापर ज़ोर देती है, और इस धारणा में भी कि व्यक्तिजन रचनात्मक उत्कृष्टता की स्थिति में पहुँच सकते हैं और ऐसे समाज में अपनी क्षमताएँ विकसित कर सकते हैं जो अपने सभी सदस्यों की उन्नति का प्रयास करता है। मार्क्सवादियों के अनुसार, इसी कारण स्वतंत्रता रचनात्मक व्यक्तित्व के विकास में निहित होती है, और पूँजीवादी समाज में इसे प्राप्त नहीं किया जा सकता जहाँ व्यक्तिजनों को स्वार्थ की सीमाओं द्वारा अलग-अलग कर दिया जाता है, और जहाँ वे स्वयं के स्वतंत्र होने की कल्पना मात्र कर सकते हैं जबकि वास्तव में वे शोषणकारी ढ़ाँचों से बँधे होते हैं। सिर्फ़ ऐसे समाज में जो निजी हितों के स्वार्थपूर्ण प्रोत्साहन से मुक्त हों, ही स्वतंत्रता की स्थिति विद्यमान रह सकती है। स्वतंत्रता, इस प्रकार, एक पूँजीवादी समाज में प्राप्त नहीं की जा सकती।

ये विचार फ्रेड्रिक एन्जिल्स कृत ऐन्टी-ड्यूरिंग एवं कार्ल मार्क्स कृत इकॉन्मिक एण्ड फ़िलॅसॉफ़िक मैन्युस्क्रिप्ट्स ऑफ़ *1844* में स्पष्टतया व्यक्त हैं। एन्जिल्स स्वतंत्रता-संबंधी धारणा की चर्चा आवश्यकता से स्वतंत्रता तक गुजरने की स्थिति के रूप में करते हैं। आवश्यकता-संबंधी अवस्था को उस स्थिति द्वारा सही निरूपित किया जाता है जिसमें व्यक्ति दूसरे की इच्छा के अधीन होता है। एन्जिल्स बताते हैं कि इंसान में उन शक्तियों को पहचानने व समझने की क्षमता होती है, जो उसके जीवन को अनुकूलित व निश्चित करती हैं। मनुष्य ने इस प्रकार उन प्राकृत कानूनों के विषय में वैज्ञानिक जानकारी प्राप्त की जो उसके अस्तित्व को निर्धारित करते हैं और यह भी जाना कि इन कानूनों के साथ यथा संभव सर्वश्रेष्ठ तरीके से किस प्रकार रहें। विडम्बना यह है कि मनुष्य अब तक उन उत्पादन-बलों के बंधन से मुक्त नहीं हो पाया है जिन्होंने उसे ऐतिहासिक रूप से अधीनता न्याय में रखा है, या अन्य शब्दों में, उसे आवश्यकता के कार्यक्षेत्र में ही सीमित रखा है। स्वतंत्रता की स्थिति में पहुँचने के लिए, मनुष्य को न सिर्फ़ मानव इतिहास की जानकारी,

बल्कि उसे बदल डालने की क्षमता भी रखनी पड़ती है। वैज्ञानिक समाजवाद की ही मदद से मनुष्य आवश्यकता के कार्यक्षेत्र को छोड़ने तथा स्वतंत्रता के कार्यक्षेत्र में घुसने की आशा कर सकता है। स्वतंत्रता कम्युनिस्ट मैनिफ़ैस्टो में मार्क्स व एन्जिलस द्वारा निर्धारित साम्यवादी समाज संबंधी धारणा का एक महत्त्वपूर्ण अवयव है। एक साम्यवादी समाज में ही, जहाँ कोई वर्ग-शोषण नहीं होगा, स्वतंत्रता की प्राप्ति होगी।

अपनी पुस्तक मैन्युस्क्रिप्ट्स में कार्ल मार्क्स दृष्ढ़तापूर्वक कहते हैं कि पूँजीवादी समाज व्यक्ति को अमानवीय बना रहा है। वह न सिर्फ़ व्यक्ति को उसके यथार्थ व्यक्तित्व से विमुख कर देता है, वह उसको समाज के रचनात्मक प्रभावों से भी पृथक कर देता है। मार्क्स प्रस्ताव करते हैं कि उन परिस्थितियों को बदलकर ही, जिनमें पृथक्करण होता है, स्वतंत्रता पुनर्प्राप्त की जा सकती है। तदनुसार, सिर्फ़ ऐसे एक साम्यवादी समाज में, जहाँ उत्पादन-साधन सामाजिक रूप से रखे जाते, और समाज का प्रत्येक सदस्य सभी की उन्नति के लिए दूसरे के साथ सहयोग में काम करता है। सच्ची आज़ादी हासिल की जा सकती थी। इस प्रकार, मार्क्स की सामाजिक व्यवस्था में स्वतंत्रता को आत्म-सिद्धि व आत्म-बोध अथवा व्यक्ति के सच्चे स्वभाव की अनुभूति को द्योतित करते हुए एक सकारात्मक अर्थ में देखा जाता है। मार्क्स ने स्वतंत्रता के यथार्थ कार्यक्षेत्र को अपने लिए ही स्वतंत्रता के विकास के रूप में देखा। इस प्रयोज्य संसाधन की अनुभूति, मार्क्स का मानना था, अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने हेतु दूसरों के साथ काम करते हुए, सिर्फ़ रचनात्मक उद्योग के अनुभव से ही की जा सकती है। रॉबिन्सन क्रूसो, जिसने कि जिस सीमा तक अधिक से अधिक संभव था नकारात्मक स्वतंत्रता का उपभोग किया तथा उसके द्वीप पर उसे रोकने अथवा बाध्य करने वाला अन्य कोई भी नहीं था। वह अविकसित और इसी कारण परतंत्र व्यक्ति था, जो कि उन सामाजिक संबंधों से वन्चित था जिनके माध्यम से मनुष्यजन पूर्णता हासिल करते हैं। स्वतंत्रता संबंधी यह धारणा मार्क्स की 'पृथक्करण' संबंधी अवधारणा में स्पष्टतः प्रकट होती है। पूँजीवाद के अन्तर्गत, श्रम को व्यक्तित्व-वंचित (de-personalized) बाज़ार शक्तियों द्वारा नियंत्रित व निरूपित मात्र एक वस्तु के रूप में देंखा जाता है। मार्क्सवादी दृष्टिकोण में पूँजीवादी कर्मचारी इस बात में पृथक्करण भोगते हैं कि वे अपनी ही यथार्थ प्रकृति से अलग हो जाते हैं : वे अपने ही उद्योग के उत्पाद से अलग हो जाते हैं, स्वयं उद्योग-प्रक्रिया से अलग हो जाते हैं, अपने साथी मनुष्यों से अलग हो जाते हैं, और अन्ततः अपने 'सच्चे' व्यक्तित्वों से अलग हो जाते हैं। स्वतंत्रता इसी कारण व्यक्तिगत सिद्धी से जुड़ी है जो कि सिर्फ़ अपृथत उद्योग ही करवा सकता है।

बोध प्रश्न 3

नोटः अ) अपने उत्तर के लिए नीचे दिये गये स्थान का उपयोग करें।

ब) अपने उत्तर को इकाई के अंत में दिये गये उत्तर से मिलायें।

1) स्वतंत्रता संबंधी मार्क्स की समीक्षा का आलोचनात्मक विवेचन करें।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3.6 स्वतंत्रता पर अन्य सामयिक विचार

बर्लिन को छोड़कर, जिसकी पुस्तक शायद स्वतंत्रता विषयक समकालीन पुस्तकों में सबसे महत्त्वपूर्ण है, अन्य विचारक भी हैं जिन्होंने वैचारिक विभाजन के दोनों पक्षों पर विचारकों द्वारा व्यक्त विचारों पर विस्तार से स्वतंत्रता संबंधी धारणा पर चर्चा की है। मिल्टन फ्रीडमैन, मिल व बर्लिन की ही भाँति, एक उदारवादी थे जिसने अपनी पुस्तक कैपिटलिज़्म एण्ड फ्रीडम में पूँजीवादी समाज के एक महत्त्वपूर्ण पहलू के रूप में स्वतंत्रता की धारणा को विकसित किया। आदान-प्रदान की स्वतंत्रता, स्वतंत्रता का एक आवश्यक पहलू था। इस स्वतंत्रता को प्रोत्साहन देने के लिए फ्रीडमैन चाहते थे कि राज्य कल्याण व सामाजिक सुरक्षा से अपना ध्यान हटा ले और स्वयं को कानून व व्यवस्था कायम करने, सम्पत्ति-अधिकारों की रक्षा करने, अनुबंध लागू करने आदि हेतु समर्पित कर दे। फ्रीडमैन के अनुसार, न सिर्फ़ व्यक्तिजनों के बीच स्वतंत्र व स्वैच्छिक आदान–प्रदान हेतु स्वतंत्रता अनिवार्य थी साथ ही ऐसी स्वतत्रता सिर्फ एक पूँजीवादी समाज में ही प्राप्त की हो सकती थी। इसके अतिरिक्त, यह आर्थिक स्वतंत्रता ही थी, जिसने राजनीतिक स्वतंत्रता हेतु कालोचित व आवश्यक परिस्थिति प्रदान की।

अपनी पुस्तक द कॉन्स्टिट्यूशन ऑफ़ लिबर्टी (1960) में, एफ.ए. हयेक ने स्वतंत्रता संबंधी एक सिद्धांत प्रतिपादित किया, जो राज्य की नकारात्मक भूमिका पर बल देता है। हयेक के अनुसार, एक स्वतंत्रता की स्थिति तब प्राप्त होती है, जब एक व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति के मनमानी इच्छा के अधीन नहीं रहता। हयेक इसको 'वैयक्तिक स्वतंत्रता' कहते हैं और साथ ही, राजनीतिक स्वतंत्रता समेत स्वतंत्रता के अन्य रूपों से वैयक्तिक स्वतंत्रता की श्रेष्ठता व निरपेक्षता को विहित करते हुए इसे स्वतंत्रता के अन्य रूपों से अलग मानते हैं। हयेक अनुमोदित करते हैं कि स्वतंत्रता का मूल अर्थ 'नियंत्रणों का अभाव' के रूप में सुरक्षित रहना चाहिए। स्वतंत्रता के नाम पर राज्य–हस्तक्षेप के बढ़ने का अर्थ होगा, उस वास्तविक स्वतंत्रता का हस्तांतरण जो कि नियंत्रणों से व्यक्ति की मुक्ति में निहित होती है।

स्वतंत्रता संबंधी मार्क्सवादी धारणा द्वारा प्रभावित विचारकों के एक अन्य समूह ने इस बात पर ज़ोर दिया कि स्वतंत्रता जिस प्रकार आधुनिक पूँजीवादी समाजों में व्यवहार की जाती है, अकेलेपन को जन्म देती है। ऐरिक फ्रोम (1900-1980) ने स्पष्ट किया कि आधुनिक समाजों में अलगाव व्यक्ति के उसकी रचनात्मक क्षमताओं व सामाजिक संबंधों से पृथक् होने के परिणामस्वरूप ही उत्पन्न हुआ। इस पृथक्करण ने व्यक्ति में उसके मानसिक स्वास्थ्य को प्रभावित करते हुए उसमें भौतिक व नैतिक अलगाव पैदा किया। केवल न्याय रचनात्मक एवं सामूहिक कार्य द्वारा ही व्यक्ति समाज के प्रति स्वयं को पुनः प्रतिष्ठित कर सकता है। हर्बर्ट मार्क्युज़ ने भी अपनी पुस्तक *वन-डाइमैन्शनल मैनः स्टडीज़ इन दि आइडिऑलॅजि ऑफ़ एडवान्स्ड इण्डस्ट्रियल सोसाइटी (1968)* में पूँजीवादी समाजों में पृथक्करण की प्रकृति संबंधी अच्छी छानबीन की है। मार्क्युज़ दृष्ढ़तापूर्वक कहते हैं कि पूँजीवादी समाजों में व्यक्ति की रचनात्मक बहुआयामी क्षमताएँ निष्फल हो जाती हैं। मनुष्य स्वयं को सिर्फ़ अपनी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति में निरन्तर लगे एक उपभोक्ता के रूप में ही व्यक्त कर सकता है।

बोध प्रश्न 4

नोटः अ) अपने उत्तर के लिए नीचे दिये गये स्थान का उपयोग करें।

ब) अपने उत्तर को इकाई के अंत में दिये गये उत्तर से मिलायें।

1) स्वतंत्रता पर कुछ दूसरी समकालीन धारणाओं पर चर्चा करें।

.....

.....

.....

.....

.....

3.7 सारांश

स्वतंत्रता की धारणा उदारवादी विचार के मर्म में है, जो विवेकशील व्यक्ति को अपने केन्द्र में रखती है और व्यक्ति या उसके स्वायत्तता-क्षेत्र एवं राज्य व समाज के बीच एक सीमारेखा खींचती है। स्वतंत्रता का उसके सामान्य बोध में अर्थ है, 'नियंत्रणों का अभाव'। दूसरे शब्दों में, यह ऐसी स्थिति को इंगित करती है जिसमें एक व्यक्ति जो अपने निजी मामलों से संबंधित तर्कसंगत निर्णयों को लेने में सक्षम है, राज्य व समाज समेत, बाहर से किसी भी नियंत्रण के बिना कोई भी कार्यवाही करने के लिए स्वतंत्र है। साथ ही, बहरहाल, स्वतंत्रता की धारणा एक राजनीतिक समुदाय एवं राजनीतिक प्राधिकार की धारणा के रूप में उसी समय क्रम-विकसित होकर सामने आयी। इस समकालिक क्रम-विकास का मतलब था, सभी व्यक्तियों की स्वतंत्रताओं को समान रूप से मान्यता और यह बोध कि वैयक्तिक स्वतंत्रता पर सकारण नियंत्रणों को इस आधार पर सही ठहराया जा सकता है कि उन्होंने ऐसी परिस्थितियाँ प्रदान कीं जिनमें वैयक्तिक स्वतंत्रता बिना किसी विवाद के उपभोग की जा सके।

नियंत्रण-अभाव के रूप में स्वतंत्रता की धारणा स्वतंत्रता संबंधी एक 'नकारात्मक' धारणा से जुड़ी है। स्वतंत्रता संबंधी एक 'सकारात्मक' धारणा को टी.एच. ग्रीन जैसे विचारकों द्वारा सुस्पष्ट किया गया, जिन्होंने उन परिस्थितियों का ध्यान रखा जिन्होंने व्यक्ति को वास्तव में स्वतंत्र होने में समर्थ किया। तदनुसार, एक सकारात्मक धारणा के रूप में स्वतंत्रता कार्य करने का अधिकार, और वे अवसर जिन्होंने कार्य संभव बनाया, रखने में निहित थी। कल्याणकारी राज्य संबंधी धारणा ने इसी विचार को लेकर शुरूआत की जिसे अपेक्षा थी कि राज्य ऐसी परिस्थितियाँ प्रदान करने हेतु सकारात्मक कदम उठाये जिनमें व्यक्तिजन कार्य करने एवं स्वयं को विकसित करने में वास्तविक रूप से स्वतंत्र हों।

यद्यपि जे.एस. मिल एवं ईसाइया बर्लिन जैसे दार्शनिकों ने उक्त दोनों धारणाओं के बीच सामंजस्य स्थापित करने की कोशिश की, मार्क्सवादियों ने महसूस किया कि स्वतंत्रता एक पूँजीवादी समाज में अनुभव नहीं की जा सकती। एक पूँजीवादी समाज, उन्होंने बल देकर कहा, व्यक्ति को उसके सामाजिक प्रसंगों से एवं उसके अपने स्वभाव से पृथक् कर देता है। स्वतंत्रता, हम देख सकते हैं, विभिन्न विचार-सूत्रों द्वारा विभिन्न रूप से समझी गई है। यह, बहरहाल, लोकतांत्रिक विचार में एक बुनियादी अवधारणा बनी ही हुई है।

3.8 संदर्भ

बैरी, नॉर्मन, *ऐन इण्ट्रोडक्शन टु मॉडर्न पॅलिटिकॅल थिअरी*, मैकमिलन, लंदन, 2000 (अध्याय 8 : लिबर्टी)

हेवुड,एण्ड्रयू, *पॅलिटिकॅल थिअरी*, मैकमिलन, लंदन, 1999 (अध्याय 9 : फ्रीडम, टॉलेरेशन एण्ड लिबरेशन)

विनोद, एम जे और एम देशपान्डे, 2013 *कन्टेम्परेरी पालिटिक्स थिअरी*, नई दिल्ली, पी एच आई लर्निंग प्राइवेट लिमिटेड

3.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) निम्न बिंदुओं पर प्रकाश डालें:

- नकारात्मक स्वतंत्रता का मतलब है बाहरी नियंत्रणों का अभाव।
- सकारात्मक स्वतंत्रता उन परिस्थितियों के होने पर जोर देती है, जिनसे बेहतर विकास हो।

बोध प्रश्न 2

1) निम्न बिंदुओं पर ध्यान दें:

- मिल ने नकारात्मक स्वतंत्रता पर बल दिया।
- व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर प्रतिबंध का विरोध किया।
- स्वयं संबंधी तथा अन्य संबंधी कार्यों में तर्क।

बोध प्रश्न 3

1) निम्न बिंदुओं पर प्रकाश डालें:

- उदारवादियों की तुलना में मार्क्सवादी व्यक्ति और समाज में आपसी निर्भरता को मानते हैं।
- पूँजीवाद मनुष्य को उसके स्वयं तथा समाज के रचनात्मक प्रभावों से अलग कर देता है।
- स्वतंत्रता सिर्फ एक कम्युनिस्ट समाज में ही प्राप्त की जा सकती है।
- राबिन्सन क्रूसो का उदाहरण।

बोध प्रश्न 4

1) निम्न बिंदुओं पर प्रकाश डालें:

- मिन्टन फ्रीडमैन, एफ ए. हायेक एरिक फ्रोम तथा हरब्रट मार्क्युज के विचारों का जिक्र करें।

इकाई 4 समानता*

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य

4.1 परिचय

4.2 समानता के विभिन्न प्रकार

- 4.2.1 औपचारिक समानता
- 4.2.2 अवसर की समानता
- 4.2.3 परिणामों की समानता

4.3 समानता के कुछ मूल सिद्धांत

4.4 समानता के विरुद्ध कुछ तर्क

4.5 असमानता के पक्ष में उदारवादी तर्कसंगतता

4.6 समानता एवं नारीवाद

4.7 समानता और स्वतंत्रता

4.8 सारांश

4.9 संदर्भ

4.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

4.0 उद्देश्य

इस इकाई का मुख्य उद्देश्य है, समानता का अर्थ समझना और इस अवधारणा से जुड़े महत्त्वपूर्ण सैद्धान्तिक विषयों पर ध्यान देना। इस इकाई को पढ़ने पर, आप इस योग्य होंगे कि :

- समानता संबंधी मूल सिद्धांतों की संकल्पना को स्पष्ट कर सकें,
- समानता के कुछ मूल सिद्धांतों पर चर्चा कर सकें,
- औपचारिक समानता, अवसर की समानता और परिणामों की समानता को स्पष्ट कर सकें,
- कुछ समतावाद-विरोधी विचारों की जाँच कर सकें,
- उदारवादियों के असमानता-संबंधी औचित्य प्रतिपादन पर चर्चा कर सकें, और अन्ततः
- समानता व स्वतंत्रता के बीच संबंध का मूल्यांकन कर सकें।

4.1 परिचय

समानता अर्थात् बराबरी की धारणा आधुनिक राजनीति एवं राजनीतिक चिंतन का मुख्य विषय प्रतीत होती है। जन्म पर आधारित सामाजिक अनुक्रम को प्रकृति प्रदत्त माना जाता था। काफी समय पहले सोच बदली है और अब ऐसा नहीं माना जाता है। वस्तुतः आधुनिक राजनीतिक सोच इस परिकल्पना से शुरू होती है कि सभी मनुष्य समान हैं। 1789 में फ्रांसीसी क्रांति व तदोपरांत अमेरिकी गृह-युद्ध – लोकतंत्र, समानता व स्वतंत्रता के विचार

*प्रो. कृष्णा मेनन, अम्बेडकर विश्वविद्यालय, दिल्ली

को व्यक्त करने में ये दो ऐतिहासिक रूप से बड़ी महत्त्वपूर्ण घटनाएँ हैं। एक ने मध्यकालीन क्रम-परम्पराओं को चुनौती दी, तो दूसरी ने नस्ल-आधारित असमानताओं की ओर ध्यान आकृष्ट किया। तथापि, समानता के विचार को स्वीकृति मिलना आसान नहीं न्याय था। 1931 में लेखन करते हुये आर.एच. टॉनी ने ब्रिटिश समाज में 'असमानता का धर्म' पर अफसोस ज़ाहिर किया। जिस बात ने उन्हें परेशान किया था वह मात्र समाज में असमानताओं की विद्यमानता नहीं थी, वरन् उसको नैसर्गिक और अपरिहार्य के रूप में स्वीकार किया जाना था। द्वितीय विश्वयुद्धोपरांत काल में अनेक परिवर्तन हुए थे और समानता के विचार को काफ़ी व्यापक लोकप्रियता मिल चुकी थी। उपनिवेश देशों में स्वतंत्रता की तीव्र लहर ने समानता विषयक बहस में एक और महत्त्वपूर्ण आयाम जोड़ दिया तथा नारी-आन्दोलन ने भी कुछ ऐसा ही किया है।

आज के संदर्भ में हम कह सकते हैं कि समानता को मानव जीवन के एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण सिद्धांत के रूप में स्वीकार किया गया है, तथापि इस बारे में बड़े झगड़े होते हैं कि समानता को कहाँ और कैसे व्यवहार में लाया जाए। एक और अधिक विवाद ग्रस्त क्षेत्र है – समाज में धन-सम्पत्ति व आय के वितरण हेतु समानता के सिद्धांत का प्रयोग इस संदर्भ में यह उल्लेख करना उपयोगी होगा कि हाल के वर्षों में समतावाद-विरोधी सोच का गंभीर रूप से पुनरुत्थान हुआ है, जो कि उस राजनीतिक अर्थव्यवस्था वाली विचारधारा की बढ़ती लोकप्रियता से दृढ़ीकृत हुई है, जिसका तर्क है कि समतावादी उपाय बाज़ार क्षमता का गला घोंट देते हैं और आगे चलकर हर किसी की हालत खस्ता कर देते हैं।

समतावादियों से तदनुसार अपेक्षा है कि चुनौतियों की एक नयी शृंखला के जवाब में अपने तर्कों को सुस्पष्ट करें; वे आमतौर पर इस तथ्य को स्पष्टतः सिद्ध करने में लगे रहते हैं; कि वे सम्पूर्ण समानता की माँग नहीं कर रहे हैं और इस प्रकार, एक रूपता उनकी योजना का हिस्सा कतई नहीं है। इसके विपरीत, जिसको वे बचाने का प्रयास करते हैं वह है विविधता।

4.2 समानता के विभिन्न प्रकार

4.2.1 औपचारिक समानता

अंग्रेजी दार्शनिक जॉन लॉक मनुष्य की नैसर्गिक समानता पर आधारित समानता–संबंधी विचार के सर्वाधिक वाक्पटु समर्थकों में से एक हैं। (कहने की ज़रूरत नहीं कि लॉक की कार्य-योजना में महिलाओं का कतई स्थान नहीं था!) कांट ने इस सार्वभौम मानवता के एक निष्कर्ष रूप में सार्वत्रिकता और समानता के बारे में बात कर इस विचार को और मज़बूती प्रदान की। इस प्रकार, औपचारिक समानता का अर्थ हो गया –सामान्य मानवता के आधार पर सभी व्यक्तियों से समान रूप से व्यवहार किया जाए।

इस विचार की सबसे महत्त्वपूर्ण अभिव्यक्ति है – विधि-संगत समानता अथवा कानून के समक्ष समानता का सिद्धांत। कानून के द्वारा सभी लोगों से समान रूप से व्यवहार किया जाना चाहिए, बेशक उनकी जाति, नस्ल, वर्ण, लिंग, धर्म, सामाजिक पृष्ठभूमि, इत्यादि कुछ भी हो। जबकि यह नस्ल, लिंग, सामाजिक पृष्ठभूमि व इसी प्रकार के अन्य मानदण्डों पर आधारित विशेषाधिकारों के खिलाफ़ संघर्ष में एक स्वागत योग्य कदम था, अपने आप में यह एक बहुत सीमित धारणा है। यह सिद्धांत इस तथ्य से इंकार करता है कि जाति, लिंग व सामाजिक पृष्ठभूमि द्वारा डाली गई अड़चनें इतनी अपरिहार्य हो सकती थीं कि व्यक्ति उस औपचारिक समानता को लाभ उठाने में भी समर्थ नहीं होता जो कि कानून सभी व्यक्तियों को प्रदान करता है।

इस संदर्भ में यह ग़ौरतलब है कि यही वो अपर्याप्ता थी, जिसने मार्क्स को अपने निबंध 'ऑनदृजूइश क्वैश्चन' में इस समस्या पर सूक्ष्म दृष्टि डालने को प्रवृत्त किया। उसने निश्चय पूर्वक कहा कि औपचारिक समानता जबकि एक महत्त्वपूर्ण अग्रसर कदम है, वह मानव का उद्धार नहीं कर सकती। जबकि बाज़ार ने लोगों को सामाजिक दर्जे व अन्य समरूप श्रेणियों द्वारा लगाए गए अड़ंगों से मुक्त कर दिया, उसने भेदों को पैदा कर दया, जिनको वर्ग आधारित निजी संपत्ति ने कायम रखा। इसका मतलब है कि सभी व्यक्तियों का बाजार मूल्य अलग-अलग है। इसलिए, मार्क्सवादी औपचारिक समानता का वर्णन बाजार की समानता के संदर्भ में करते हैं, जो कि समाज की नितांत असमानताओं को छुपाने का एक मुखौटा मात्र है।

आज, समतावादी इस धारणा से दूर चले गए हैं कि सभी मनुष्यों को समान बनाया गया है और इसी कारण से, उन्हें समान अधिकार रखने चाहिए; ऐसा इस तथ्य की वजह से है कि मनुष्य जन अधिकांश महत्त्वपूर्ण पहलुओं में समान नहीं हैं। इसीलिए, आज, समानता शब्द विवरणकारी के स्थान पर एक निदेशात्मक अर्थ में अधिक प्रयोग होता है। उन नीतियों का समर्थन किया जाता है जो मनुष्यों के कुछ वर्णनात्मक विशेष गुणों पर निर्भर न रहते हुए समानता के आदर्श को बढ़ावा देती हैं।

बोध प्रश्न 1

नोटः अ) अपने उत्तर के लिए नीचे दिये गये स्थान का उपयोग करें।

ब) अपने उत्तर को इकाई के अंत में दिये गये उत्तर से मिलायें।

1) वह क्या था जिसने ब्रिटिश समाज के बारे में आर.एच.टॉनी को व्याकुल कर दिया?

.....

.....

.....

.....

.....

2) औपचारिक समानता सिद्धांत को दिशा-निर्देशित करने वाला मूल तत्त्वज्ञान क्या है?

.....

.....

.....

.....

.....

4.2.2 अवसर की समानता

सरल समझ में, अवसर की समानता का अर्थ है उन सभी अवरोधों को दूर करना जो व्यक्तिगत आत्म-विकास में बाधा डालते हैं। इसका अर्थ है कि पेशे या व्यवसाय प्रतिभावान व्यक्ति के लिए ही खुले होने चाहिए और तरक्कियाँ योग्यताओं पर आधारित होनी चाहिए। हैसियत, पारिवारिक संबंधों, सामाजिक पृष्ठभूमि व ऐसे ही अन्य कारकों का हस्तक्षेप नहीं होने देना चाहिए।

अवसर की समानता एक अत्यन्त आकर्षक धारणा है, जो उस बात से संबंधित है जिसका न्याय जीवन के आरम्भ बिन्दु के रूप में वर्णन किया जाता है। निहितार्थ यह है कि समानता यह अपेक्षा रखती है कि सभी व्यक्ति एक समान बिंदु से जीवन शुरू करें। तथापि, यह ज़रूरी नहीं कि इसके परिणाम बिल्कुल भी समतावादी हों। यथार्थतः चूँकि हर व्यक्ति ने समान रूप से शुरुआत की, असमान परिणाम स्वीकार्य एवं वैध हैं। इस असमानता को तब भिन्न-भिन्न नैसर्गिक प्रतिभाओं, परिश्रम करने की क्षमता तथा भाग्य के भी शब्दों में स्पष्ट किया जाएगा।

यह लगता है कि इस तरह से बनी अवसर की समानता एक ऐसी व्यवस्था में प्रतिस्पर्धा करने का समान अवसर प्रदान करती है जो अनुक्रम आधारित रही है। अगर ऐसा है तो यह तत्त्वतः कोई समतावादी सिद्धांत प्रतीत नहीं होता। अवसर की समानता, इस प्रकार, एक असमतावादी समाज की ओर इशारा करती है, यद्यपि वह योग्यता के उच्च आदर्श पर आधारित, है। यह धारणा स्वयं को प्रकृति और परम्परा के बीच भिन्नता पर आधारित करती है। तर्क यह है कि वे भिन्नताएँ जो प्रतिभाओं, कौशलों, कठोर श्रम इत्यादि जैसे विभिन्न प्राकृतिक गुणों के आधार पर प्रकट होती हैं, नैतिक रूप से समर्थनीय हैं। तथापि, वे भिन्नताएँ जो परम्पराओं अथवा ग़रीबी, आश्रयहीनता जैसे सामाजिक रूप से बने भेदों से पैदा होती हैं, समर्थनीय नहीं हैं। सच्चाई, हालाँकि, यह है कि यह एक विशिष्ट सामाजिक पक्षपात है जो समाज में भेदों को स्पष्ट करने के लिए सुन्दरता अथवा बुद्धिमत्ता जैसी किसी प्राकृतिक भिन्नता को एक प्रासंगिक आधार बना देती है। तदनुसार, हम देखते हैं कि प्रकृति व परम्परा के बीच भेद इतना सुस्पष्ट नहीं है जैसा कि समतावादी बतलाते हैं।

अवसर की समानता को प्रतिभाशाली व्यक्तियों के लिए पेशे या व्यवसाय खुले रखना, निष्पक्ष समान अवसर उपलब्ध कराना और सकारात्मक-भेदभाव सिद्धांत में बदलाव के माध्यम से संस्थापित किया जाता है। ये सब इस प्रकार काम करते हैं कि असमानता की व्यवस्था तर्कसंगत और स्वीकार्य लगे। निहित धारणा यह है कि जब से प्रतिस्पर्धा निष्पक्ष हुई है, लाभ अपने आप आलोचना से परे हो गया है। इस बात में कोई शक नहीं कि इस प्रकार की व्यवस्था ऐसे लोगों को जन्म देगी जो सिर्फ़ अपनी प्रतिभाओं एवं वैयक्तिक सहजगुणों पर ध्यान देंगे। यह बात उन्हें अपने लोगों के साथ किसी भी सामुदायिक अनुभूति से वंचित करती है, क्योंकि वे सिर्फ़ प्रतिस्पर्धा की भाषा में ही सोच सकते हैं। शायद, यह सिर्फ़ एक ऐसे समुदाय को जन्म दे सकती है जो एक ओर तो सफल व्यक्तियों का समुदाय होगा, और दूसरी ओर असफल व्यक्तियों का ऐसा समुदाय जो अपनी तथाकथित विफलता के लिए स्वयं को ही दोष देगा। अवसर की समानता के साथ एक और समस्या यह है कि वह एक पीढ़ी व दूसरी पीढ़ी की सफलताओं व विफलताओं के बीच एक बनावटी वियोजन पैदा करने का प्रयास करती है।

इस प्रकार, यह देखने में आता है कि समानता पर उदारवादी विचार अवसर की समानता पर आधारित है। यह वकालत, समानता संबंधी किसी भी यथेष्ट धारणा के विरुद्ध है क्योंकि ये वो अवसर हैं जो असमान परिणामों की ओर ले जाते हैं। यह सिद्धांत, इस प्रकार, परिणामों से असम्बद्ध है और सिर्फ़ प्रक्रिया में रुचि रखता है। यह पूरी तरह से इस उदारवादी विचार को कायम रखने के साथ है कि व्यक्तिजन समाज की बुनियादी इकाई हैं और समाज को अवश्य ही उनके लिए यह संभव बनाना होगा कि वे अपने निजी हितों को सिद्ध कर पाएँ।

क्या इसका मतलब यह हुआ कि समतावादी अवसर की समानता को अनदेखा करेंगे? स्पष्ट उत्तर है—नहीं। तथापि, वे अवसर की समानता संबंधी एक अधिक व्यापक परिभाषा को लेकर चलेंगे, जो कि हर किसी को एक संतोषजनक एवं पालन योग्य तरीके से अपनी

क्षमताओं को विकसित करने के साधन मुहैया करायेगी। एक समतावादी समाज कुछ लोगों को अपनी क्षमताएँ विकसित करने हेतु वास्तविक अवसर प्रदान करने से इंकार नहीं करेगा। इस अवसर का निष्कपट समतावादी प्रयोग एक सार्थक जीवन की ओर प्रवृत्त करेगा। चूँकि यह सुनिश्चित करना सम्भव नहीं है कि हर व्यक्ति एक सार्थक जीवन बिताए, समतावादी इसका प्रयास करेंगे कि ऐसी सामाजिक परिस्थितियाँ हों जो सभी व्यक्तियों को सार्थक जीवन व्यतीत करने का अवसर प्रदान करें ।

बोध प्रश्न 2

नोटः अ) अपने उत्तर के लिए नीचे दिये गये स्थान का उपयोग करें।

ब) अपने उत्तर को इकाई के अंत में दिये गये उत्तर से मिलायें।

1) अवसर की समानता क्या है?

.....

.....

.....

.....

.....

4.2.3 परिणामों की समानता

तथापि, परिणाम पर नज़र डालने हेतु जीवन के आरंभ-बिंदु से आगे चलकर समानता के संबंधी धारणा एक और अभिव्यक्ति परिणामों की समानता के शब्दों में होगी। मार्क्स, उदाहरण के लिए, यह विचार रखते थे कि पूँजीवादी अर्थव्यवस्था से घिरा समानता हेतु कोई भी अधिकार पक्षपाती के सिवा कुछ और नहीं हो सकता। तदनुसार, उसने संपूर्णसमाजिक समानता का समर्थन किया, जो कि निजी संपत्ति के उन्मूलन द्वारा ही संभव है। परिणाम की समानता के समर्थकों का मानना है सभी दूसरी समानताएँ अधूरी रहेंगी यदि परिणाम की समानता सुनिश्चित नहीं की जाती।

परिणाम-संबंधी समानता के आलोचक यह बात रखते हैं कि इस प्रकार का काम निष्क्रियता, अन्याय और तानाशाही का रास्ता दिखलायेगा। हयेक ने, उदाहरण के लिए, तर्क दिया है कि लोग चूँकि बहुत भिन्न होते हैं, उनकी अभिलाशाएँ व लक्ष्य भिन्न होते हैं तथा कोई भी व्यवस्था जो उनसे समान रूप से सुलूक करती है, वस्तुतः असमानता में परिणत होती हैं। यह तर्क दिया जाता है कि समानता की तरफ कदम स्वतंत्रता की कीमत पर होते है। समाजवादी समतावादी उपायों का लागू किया जाना, यह दलील दी जाती है, व्यक्ति की गरिमा और आत्म-सम्मान को गुप्त रूप से क्षति पहुँचाता है और ऐसे उपायों के साथ चलने वाला सहज पैतृकवाद व्यक्ति की एक विवेकपूर्ण पसंदकर्त्ता बनने संबंधी योग्यता को अस्वीकार करता है।

4.3 समानता के कुछ मूल सिद्धांत

समतावादी जन यह नहीं मानते कि हर व्यक्ति एक-सा है अथवा एक-सा होना चाहिए। यह कोई सहज गणित की धारणा नहीं है। यह हमको कुछ ऐसे मर्म सिद्धांत प्रस्तुत करने में मदद करेगी, जिनके प्रति समतावादी वचनबद्ध होंगे। पहला वचन इस धारणा के प्रति है कि हर व्यक्ति अपनी मौलिक आवश्यकताओं को पूरा करने का अधिकार रखता/रखती है और जीवन-स्तर में व्यापक असंगतियों वाले लक्षण रखने वाला कोई भी समाज उन्हें स्वीकार्य

नहीं है। वे एक ऐसे समाज के प्रति वचनबद्ध हैं जहाँ–जीवन दशाएँ सहनीय ही नहीं, बल्कि सभी के लिए एक संतोषजनक एवं पालन योग्य जीवन प्रदान करने में सक्षम भी हों।

एक अन्य महत्त्वपूर्ण सिद्धांत समान आदर संबंधी है, जिसका निहितार्थ है – किसी भी प्रकार के अपमानजनक व्यवहार अथवा परिस्थितियों का विरोध; आदर्श रूप में, सहानुभूतिपर आधारित एक समाज। एक समतावादी विचार न सिर्फ़ व्यक्तियों के बीच, बल्कि राष्ट्रों के बीच भी, आय व धन-सम्पत्ति में बड़े अन्तरों का विरोध करता है। इसमें सभी के लिए गरिमापूर्ण, रुचिपूर्ण एवं सुरक्षित कार्य की संभावना के अतिरिक्त, अर्थव्यवस्था एवं कार्यस्थल का लोकतांत्रिक नियंत्रण भी शामिल होगा। राजनीतिक समानता, कहने की ज़रूरत नहीं, महज वोट देने अथवा किसी सार्वजनिक पद हेतु खड़े होने का अधिकार नहीं है, वरन् यह जीवन के सभी पहलुओं में नागरिक अधिकारों का एक व्यापक जाल-तंत्र एवं एक लोकतांत्रिक भागीदारी है, ताकि व्यक्तिजन एक अधिक सार्थक तरीके से अपने जीवन को नियंत्रित करने व कार्यरूप देने में समर्थ हों।

लैंगिक, प्रजातीय, संजातीय व धार्मिक समानता समानता-संबंधी जटिल धारणा के कुछ अन्य घटक हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि हम समानताओं की कोई पूरी तरह से विस्तारपूर्वक सूची नहीं बना सकते, और इसी में अन्तर्निहित है समानता संबंधी अवधारणा की सुधारवादी क्षमता।

4.4 समानता के विरुद्ध कुछ तर्क

यह तर्क दिया जाता है कि समानता एक ऐसी अवधारणा है जो कि वास्तव में स्वीकार करने योग्य नहीं है क्योंकि समाज और सामाजिक प्रक्रियाएँ एक प्रतिस्पर्धा से जुड़ी हैं, जिसमें हर एक व्यक्ति विजेता नहीं हो सकता। हम ऐसी आपत्तियाँ परिणामों की समानता संबंधी अपने चर्चा के प्रसंग में पहले ही देख चुके हैं। प्रतिक्रिया स्वरूप यह कहा जा सकता है कि यह विरुद्ध तर्क समाज व व्यक्ति के स्वभाव की एक विशिष्ट व्याख्या से जन्मता है।

आज के युग में हयेक, फ्रीडमैन एवं नोज़िक के नाम उस विचार से जुड़े हैं जो समतावाद को आज़ादी के लिए एक ख़तरा मानता है। नोज़िक विशेष रूप से जॉन रॉल्स व डवोरकिन जैसे उदारवादियों के आलोचक हैं, इस बात के लिए कि वे अवसर की समानता को बढ़ाने के लिए कल्याणकारी विधानों के प्रति वचनबद्ध थे। जो यह कहते हैं कि समाज में असमानता आत्म-सम्मान को गुप्त रूप से क्षति पहुँचाती है, इसके विपरीत नोज़िक जैसे मुक्तिवादी का तर्क है यह समतावाद ही है जो लोगों से उनका आत्म-सम्मान छीन लेता है। नोज़िक का दावा है कि असमतावादी समाज व्यक्तियों की विशिष्टता एवं उनके बीच भेद को स्वीकार कर व्यक्तियों के प्रति अधिक सम्मान दर्शाते हैं। चूँकि एक समतावादी समाज सत्ता, पद, आय अथवा सामाजिक प्रतिष्ठा पर आधारित किन्हीं भी भेदों से वंचित होगा, वहाँ आत्म-सम्मान के लिए कोई आधार न होगा, क्योंकि आत्म-सम्मान उन मानदण्डों पर आधारित होता है जो लोगों में भेद उत्पन्न करते हैं।

एक बड़ी सख्त आपत्ति वे लोग करते हैं जो यह मानते हैं कि समानता लागू करने का कोई भी प्रयास राज्य को मज़बूती प्रदान करने में परिणत होता है और इसकी वजह से वैयक्तिक स्वतंत्रता कमज़ोर पड़ती है।

बोध प्रश्न 3

नोटः अ) अपने उत्तर के लिए नीचे दिये गये स्थान का उपयोग करें।

ब) अपने उत्तर को इकाई के अंत में दिये गये उत्तर से मिलायें।

1) स्पष्ट करें कि किस प्रकार नोज़िक के अनुसार एक समतावादी समाज लोगों से उनका आत्म-सम्मान छीन लेता है।

.....

.....

.....

.....

.....

4.5 असमानता के पक्ष में उदारवादी तर्कसंगतता

उदारवादी लोगों से भिन्न व्यवहार किए जाने हेतु अनुकूल मानदण्डों के रूप में लिंग, नस्ल, अथवा वर्ग को अस्वीकार करते हैं, परन्तु वे यह ज़रूर मानते हैं कि यदि असमानताएँ उनके भिन्न गुण-अवगुण अथवा योग्यता के आधार पर अर्जित एवं यथोचित हैं, तो यह बात न्यायसंगत और उचित है। तदनुसार, उदारवादी सिद्धांत यह दावा करता है कि जब तक असमानता को समाज हेतु विशेष गुणों व योग्यताओं अथवा विशेष योगदान के लिए पारितोषिक अथवा पुरस्कार के आधार पर सही ठहराया जा सकता है, यह स्वीकार्य रहेगा। यहाँ हम इस बात पर ध्यान दिए बग़ैर नहीं रह सकते कि समाज के लिए जो भी पुरस्करणीय, विशेष अथवा योगदान-स्वरूप है, सभी उक्त समाज की विशिष्टताओं से सीमाबद्ध है। इसके अतिरिक्त, किसी व्यक्ति के योगदान के मूल्य को अलग कर पाना बहुत मुश्किल है, और यदि कोई योगदान देने के बाद वापस ले जाता है, तो क्या वह वाक़ई कोई योगदान कर रहा है? यह विचार समग्रता में बुनियादी उदारवादी विचार के विरुद्ध लगता है कि सभी व्यक्ति समान रूप से योग्य व सम्मान योग्य हैं, और लोगो को प्रतिभाओं व योग्यताओं की एक गठरी सा बना देता है।

आज के युग में, रॉल्स एवं डवोरकिन जैसे आधुनिक उदारवादियों ने असमानता को सही ठहराने के लिए मानदण्डों के रूप में योग्यता एवं गुण को नहीं माना है। वास्तव में, वे सभी जनों की भिन्न वैयक्तिक प्रतिभाओं व कौशलों पर ध्यान दिए बग़ैर उनके समान नैतिक गुण पर आधारित सम्मान की समानता की वकालत करते हैं। वे इस समानता को इस धारणा पर आधारित करते हैं कि सभी मनुष्य विकल्प चुनने एवं जीवन-योजना तैयार करने की योग्यता से समान रूप से सम्पन्न हैं। रॉल्स, उदाहरण के लिए, योग्यता अथवा प्रयास के अनुसार पारितोषिकों के वितरण को नैतिक रूप से मनमाना कहकर अस्वीकार करते हैं, क्योंकि योग्यताओं व कुशलताओं में अंतर प्राकृतिक सच्चाई हैं और इन कुशलताओं व योग्यताओं की विद्यमानता अथवा अभाव के कारण किसी को लाभ अथवा हानि नहीं होनी चाहिए। इस कारण से, वह इन नैसर्गिक योग्यताओं का सामाजिक संपत्ति के रूप में समर्थन करते हैं, ताकि 'समाज का बुनियादी ढाँचा व्यवस्थित किया जा सके, ताकि ये आकस्मिकताएँ सबसे कम किस्मत वालों की भलाई करें।

तथाकथित 'भेद सिद्धांत' जो कि रॉल्स स्पष्टतया व्यक्त करते हैं, वह उनकी समझ में सर्वोत्तम सिद्धांत है, यह सुनिश्चित करने के लिए कि प्राकृतिक गुण अनुचित लाभों की ओर प्रवृत्त न करें। यह सिद्धांत अपेक्षा रखता है कि सामाजिक व आर्थिक असमानताएँ इस प्रकार व्यस्थित हों कि ये दोनों शर्तें पूरी हों : (अ) ये न्यूनतम लाभांवितों के अधिकतम लाभार्थ हों और (ब) ये अवसर की उचित समानता संबंधी शर्तों के तहत सभी के लिए खुले उच्च पद व स्थानों से जुड़ी हों। यह, तदनुसार, परम्परागत उदारवादी अधिकारों से भिन्न समानता

की एक अधिक व्यापक समझ है। असमान पारितोषिक भिन्न योग्यताओं के आधार पर नहीं, वरन् प्रोत्साहन के रूप में न्यायोचित ठहराये गए हैं, ताकि वे न्यूनतम लाभांवितों को लाभ पहुँचायें। डवोरकिन समानता संबंधी परम्परागत उदारवादी विचारों से भी असहमति जताते हैं और कुछ पुनर्वितरण एवं कल्याणकारी नीतियों की आवश्यकता को स्वीकार करते हैं।

मैकफ़र्सन ने रॉल्सवादी समानता की इस आधार पर आलोचना की है कि यह वर्गों के बीच संस्थागत असमानताओं की अपरिहार्यता को मानती हैं। ऐसा करते हुए रॉल्स इस तथ्य से इंकार करते हैं कि वर्गाधारित असमानताएँ विभिन्न वर्गों के व्यक्तियों के बीच असमान शक्ति-संबंधों को जन्म देती हैं और इस प्रकार, समानता के अन्य पहलुओं पर असर पड़ता है।

4.6 समानता एवं नारीवाद

नारीवादी समानता के मुद्दे को लिंग-भेद के नज़रिए से देखते हैं। इस संबंध में एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक है सूज़न ओकें कृत जस्टिस, जैंडर एण्ड द फ़ैमिली (1989)। यह तर्क प्रस्तुत किया गया है कि समान अवसर संबंधी-कानून अथवा विभिन्न क्षेत्रों हेतु समानता सिद्धांतों के प्रसार द्वारा पुनर्वितरणकारी न्याय, सारतः, समानता पैदा नहीं कर सकते, क्योंकि ये नियम व सिद्धांत एक ऐसे वातावरण में संचालित होते हैं जो कि पहले से ही लिंगों के बीच असमानता से दूषित हैं, ऐसी असमानता जो सामाजिक प्रथाओं से जन्मी हैं। इनमें से अनेक प्रथाएँ महिलाओं के प्रति सीधे विभेदकारी नहीं हैं, बल्कि उनका समग्र प्रभाव होता है असमानता को मज़बूती प्रदान करना और उसे वैधता का एक जामा पहनाना। तदनुसार, यद्यपि कानून औपचारिक रूप से लिंगों के बीच भेद नहीं कर सकता, हालत यह है कि विशिष्ट व्यवसायों में महिलाओं को अलग रखने की प्रवृत्ति पायी जाती है और विवाहित महिलाएँ जो व्यवसायरत हैं, एक लिंगभेद के पूर्वाग्रह से ग्रसित समाज में खास तौर पर हानि हैं।

नारीवादी यह ध्यान दिलाते हैं कि महिलाओं की मौलिक असमानता पारिवारिक निर्णयन् में उनका कमज़ोर स्वर, बच्चों के पालन-पोषण संबंध उनका दायित्व एवं श्रम-बाज़ार से तदन्तर उनकी निकासी का विकल्पों की सहज एवं स्वैच्छिक कार्य-प्रणाली से कुछ लेना-देना नहीं है, क्योंकि भूमिकाएँ सामाजिक रूप से बनाई हुई है।

तथापि, साथ ही, यदि राज्य लिंगभेद-संबंधी भेदभाव को दूर करने में, खासकर पारिवारिक जीवन में, शामिल होता है तो इस बात पर शायद नारीवादी भी नाराज़गी व्यक्त करेंगे। यह, संभवतः, अधिक आसान होगा कि हम लिंग-असमानता के प्रति जागरुक हों और उसे सामाजिक प्रथाओं एवं सामाजिक रूप से संरचित भूमिकाओं में खोजें, जबकि इसका उपचार ढूढ़ना मुश्किल है। जब तक कि महिलाएँ स्वयं अपनी असमानता, परिवार में अपनी अधीनस्थ भूमिका के प्रति जागरूक नहीं होतीं, और सामाजिक ढाँचों को पुनः अनुकूलित करने के लिए सामने नहीं आतीं, लिंगभेद समानता के संबंध में ठोस कुछ नहीं किया जा सकता।

4.7 समानता और स्वतंत्रता

अक्सर यह दावा किया जाता है कि एक तो स्वतंत्रता व समानता विरोधात्मक हैं, और दूसरे यह विवाद इसी कारण समझौते के योग्य नहीं है। डी टोकविल ने समानता को स्वतंत्रता के सामने खड़े एक संभावित ख़तरे एवं बहुमत की निरंकुशता के रूप में देखा, जैसा कि वह व्यापक सानुरूपता भय से देखते थे, फ्रीडमैन, नोज़िक एवं हयेक इस विचार से जुड़े कुछ

अभी हाल के नाम हैं। इस प्रकार के विचार स्वतंत्रता व समानता के बीच सोच-समझकर कोई न कोई विवाद खड़ा करते हैं। यह सुझाते हुए कि समानता लागू करने के प्रयासों का तत्काल अर्थ होता है – बलप्रयोग और स्वतंत्रता की समाप्ति। वे संकेत करते हैं कि चूँकि व्यक्तिजन अपने-अपने कौशलों व योग्यताओं के लिहाज से आपस में भिन्न होते हैं, उनके जीवन में भिन्नताएँ तो अवश्यंभावी हैं, और तदनुसार असमानता की ओर एक सहज प्रवृत्ति तो होगी ही। इसको सुधारने का कोई भी प्रयास सत्तावादी दमन के साथ ही होगा और इसी कारण से स्वतंत्रता समाप्त हो जायेगी।

यहाँ समानता की तुलना एकरूपता से करने का सुविचारित प्रयास किया जाता है, समतावादी समाज कोई समरूप समाज नहीं होता। यह एक ऐसा समाज है, जहाँ हर व्यक्ति अपनी वैयक्तिक एवं भिन्न प्रतिभाओं के साथ एक समान रूप से सार्थक एवं यथेष्ट जीवन व्यतीत कर सकता/सकती है।

वे लोग जो यह दावा करते हैं कि समानता एवं स्वतंत्रता असमाधेय हैं, अपनी बात स्वतंत्रता की एक विशिष्ट समझ से शुरू करते हैं; जिसका वर्णन स्वतंत्रता की 'नकारात्म संकल्पना' के रूप में किया जाता है। वस्तुतः वे दावा करते हैं कि स्वतंत्रता की सकारात्मक संकल्पना स्वतंत्रता कतई नहीं है, बल्कि स्वतंत्रता के छद्म वेश में कोई चीज है। स्वतंत्रता संबंधी नकारात्म वर्णन स्वतंत्रता को एक व्यक्ति के जीवन में जानेबूझे हस्तक्षेप के अभाव के रूप में देखता है। इसके विपरीत, समतावादी स्वतंत्रता को उन विकल्पों के चुनने हेतु उपलब्धता एवं योग्यता के रूप देखते हैं, जो सार्थक एवं प्रभावी हों। स्वतंत्रता-संबंधी इस प्रकार की समझ इसे तत्काल ही सामाजिक एवं संस्थागत सत्ता ढ़ाँचों तक पहुँच, भौतिक व आर्थिक आवश्यकताएँ पूरा करने, तथा निस्संदेह, शिक्षा व ज्ञान पर अधिकार आदि मामलों से जोड़ेगी। इसी कारण, समतावादियों का कहना है कि सामाजिक प्रभाव, आर्थिक धन-सम्पत्ति एवं शिक्षा के लिहाज से समानता यह सुनिश्चित करने के लिए अनिवार्य है कि हर व्यक्ति एक सार्थक एवं यथेष्ट जीवन व्यतीत करे। यह काम करने में समतावादी सामाजिक एवं संस्थागत ढ़ाँचों द्वारा दबी हुई समानता को पाना अपना लक्ष्य मानते हैं। धन-संपत्ति के अंतर से स्वतंत्रता गंभीर रूप से बाधित है। शिक्षा, हमें नए विचारों को ग्रहण करने में समर्थ करके और हमें विभिन्न कौशलों से शिक्षित कर निस्संदेह एक युक्तिकारी कारक की भूमिका निभाती है। इसी कारण, इन मूल सिद्धांतों की प्राप्ति में कोई भी असमानता, उस सार्थक व यथेष्ट जीवन को जीने हेतु व्यक्ति की समर्थता को सीमितकर देगी जो कि समतावादियों के लिए स्वतंत्रता की धारणा का सार-तत्त्व है।

समतावादी यह तर्क देते हैं कि मनुष्य महज अकेले छोड़ दिए जाने से स्वतंत्र नहीं हो जाता। उनका कहना है कि अधिकार, धन-सम्पत्ति व शिक्षा स्वतंत्रता के मूल स्रोत हैं और वह समाज जो उन पहलुओं में समानता सुनिश्चित नहीं कर सकता, स्वतंत्र समाज नहीं हो सकता। तदनुसार, हम देखते हैं कि स्वतंत्रता व समानता विरोधात्मक होने से बढ़ कर दरअसल महज संगत ही नहीं हैं, बल्कि एक-दूसरे पर निर्भर भी हैं।

बीसवीं सदी का अधिकांश समय ऐसा था, जब समानता की तर्कसंगतता देने की जरूरत नहीं थी। इसको ऐसे केन्द्रीय सिद्धांत के रूप में देखा जाता था जिसके इर्द-गिर्द राष्ट्रों व समाजों को स्वयं को संगठित करना होता था। बहरहाल, नई सदी के आगमन के साथ ही, समानता को नैतिक रूप से अवांछित सिद्ध करने का एक गंभीर बौद्धिक एवं राजनैतिक प्रयास किया जा रहा है। संपत्ति के अधिकार की अपरिहार्य प्रवृत्ति एवं समाज की अनिवार्यतः बहुवादी प्रवृत्ति के चलते समतावाद-विरोधी दावे को समानता के अनुशीलन द्वारा गंभीर रूप से ख़तरा रहेगा।

4.8 सारांश

इस इकाई में हमने इस बात पर सूक्ष्म दृष्टि डाली कि समानता की अवधारणा का मतलब क्या है। इस तथ्य के साथ यह विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है कि हम ऐसे समाज में रहते हैं जो अनेक प्रकार की असमानताओं से लड़ रहा है। समानता अपने बहुत ही सीमित अर्थ में औपचारिक समानता है जो कि सभी मनुष्यों की सार्वभौम मानवता संबंधी धारणा को स्वीकार करती है। अवसर की समानता, जिसको हमने देखा, का प्रयोग असमानता को अन्यतम रूप से सही ठहराने के लिए किया जा सकता है। परिणामों की समानता समानता शब्द के अर्थ को विस्तार प्रदान करती है। हमने समानता संबंधी आधुनिक उदारवादी बचाव पक्ष के साथ-साथ इस बात का भी अध्ययन किया कि यदि वह समाज में केवल सबसे खस्ता हालत वालों के अधिकतम लाभ हेतु ही काम करता हो तो वह असमानता को किस प्रकार सही ठहराता है। हमने समानता संबंधी नारीवादी समालोचना पर भी ध्यान दिया।

अन्ततः, हमने समानता व स्वतंत्रता के बीच बहस पर सूक्ष्म दृष्टि डाली, और देखा कि स्वतंत्रता संबंधी एक नकारात्मक अवधारणा इन दो अवधारणाओं को विवादास्पद बनाती है।

4.9 संदर्भ

नोर्मैन, पी. बेरी, *ऐन इण्ट्रोडक्शन टु माडर्न पॅलिटिकॅल थिअरी*, मैकमिलन, लंदन, 2000

हैल्ड, डैविड, *पॅलिटिकॅल थिअरी टुडे*, स्टिबार्ट, रॉबर्ट एम., रीडिंग्स इन सोशल एण्ड पॅलिटिकॅल फिलॉसफी

4.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) टॉनी न सिर्फ़ असमानता की विद्यमानता को लेकर परेशान थे, बल्कि इस बात से भी कि इस असमानता को स्वाभाविक एवं अपरिहार्य के रूप में स्वीकार किया जाता है।
2) औपचारिक समानता का मार्गदर्शन करने वाला बुनियादी सिद्धांत यह है कि चूँकि सभी मनुष्य समान बनाये गए हैं, उनके साथ समान व्यवहार होना चाहिए।

बोध प्रश्न 2

1) एक समतावादी समाज कुछ लोगों को अपनी क्षमताएँ विकसित करने के लिए सच्चा अवसर देने से इंकार नहीं करेगा। इस अवसर का वास्तविक समतावादी प्रयोग एक सार्थक जीवन व्यतीत करना होगा।

बोध प्रश्न 3

1) नोज़िक यह दावा करते हैं कि असमतावादी समाज व्यक्तियों की विशिष्टता एवं उनके बीच भेद को स्वीकार कर व्यक्तिजनों के प्रति अधिक सम्मान दर्शाते हैं। चूँकि एक समतावादी समाज से प्रभाव, पद, आप व सामाजिक स्थिति पर आधारित भेद दूर कर दिए जाएँगे, आत्म-सम्मान के लिए आधार नहीं होगा, क्योंकि आत्म-सम्मान उन मानदण्डों पर आधारित होता है जो लोगों में भेद करते हैं।

इकाई 5 न्याय*

इकाई की रूपरेखा

5.0 उद्देश्य

5.1 परिचय

5.2 न्याय का अर्थ

5.2.1 न्याय और कानून

5.2.2 न्याय और भेदभाव

5.3 वितरणकारी न्याय

5.3.1 वितरणकारी न्याय और आर्थिक न्याय सुनिश्चित करना

5.4 सामाजिक न्याय

5.4.1 सामुदायिक हित का प्राबल्य

5.4.2 सुधार अथवा सामाजिक परिवर्तन

5.4.3 सामाजिक न्याय संबंधी पाउण्ड का चित्रण

5.4.4 सामाजिक न्याय संबंधी आलोचना

5.5 प्रक्रियात्मक न्याय

5.6 जॉन रॉल्स का न्याय-सिद्धांत

5.7 न्याय : संयोजन का एक शब्द

5.8 सारांश

5.9 संदर्भ

5.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

5.0 उद्देश्य

इस इकाई में हम न्याय की संकल्पना का अध्ययन करेंगे, जो आमतौर पर राजनीति-विज्ञान और खासतौर पर राजनीति-सिद्धांत में सबसे बुनियादी और महत्त्वपूर्ण संकल्पनाओं में से एक है। यह इकाई पढ़ने के बाद आप इस योग्य होंगे कि :

- न्याय-संबंधी संकल्पना के अर्थ को स्पष्ट कर सकें;
- न्याय के विभिन्न पहलुओं के बीच अंतर कर सकें;
- न्याय के विभिन्न सिद्धांतों की पहचान और व्याख्या कर सकें; और
- स्वतंत्रता, समानता, कानून व न्याय के बीच संबंध स्पष्ट कर सकें।

5.1 परिचय

अब तक आप सभी कानून, स्वतंत्रता एवं समानता जैसी संकल्पनाओं के विषय में जान चुके होंगे। इन संकल्पनाओं का एक पूर्व-अध्ययन न्याय की अवधारणा को समझने में मदद करेगा। न्याय का मूल सिद्धांत वस्तुतः उपरोक्त विषयों से जुड़ा है।

*डॉ. रचना सुचिन्मयी, मगध विश्वविद्यालय, पटना

इस इकाई में हम इस अवधारणा का अर्थ उसके पहलुओं में समझने का प्रयास करेंगे। तदोपरांत, हम न्याय संबंधी विभिन्न सिद्धांतों का अध्ययन करेंगे। हम एक ओर न्याय और दूसरी ओर कानून, स्वतत्रंता व समानता के बीच संबंध पर भी प्रकाश डालेंगे।

न्याय राज्य के महत्त्वपूर्ण उद्देश्यों में एक है। राजनीति विषयक प्राचीनतम समझौतों में एक समझौता, प्लैटो का 'रिपब्लिक', न्यायसंगत राज्य के निर्माण हेतु एक प्रयास था। न्याय इसकी केन्द्रीय अवधारणा थी। इसी कारण, इस अवधारणा की एक सही समझ विभिन्न राजनीतिक प्रणालियों, उनकी नीतियों व उन विचारधाराओं जिन पर वे आधारित हैं, के मूल्यांकन में मदद करेगी। इस प्रकार, न्याय ही राजनीतिक मूल्यों का समन्वयक एवं संयोजक है तथा, जैसा कि अरस्तू ने कहा, यह 'वो है जो तमाम भलाई के लिए ज़िम्मेदार' है।

5.2 न्याय का अर्थ

न्याय की अवधारणा संबंधी किसी भी चर्चा में उसके बहु-आयामी स्वभाव का ध्यान रखना पड़ता है। 'न्याय क्या है' का जवाब सिर्फ़ उन मापदण्डों (मूल्यों) का संकेत करके ही दिया जा सकता है, जिनके सहारे मनुष्य ने न्याय के बारे में सोचा और सोचता रहेगा। यह वक्त गुज़रने के साथ ही बदल जाता है। इस प्रकार, अतीत में जो न्याय था, वर्तमान में अन्याय हो सकता है तथा वर्तमान में जो न्याय है, अतीत में अन्याय रहा हो सकता है। तदनुसार, न्याय का समतावादी बोध रहा है जिसमें उच्चतम स्थान समानता के मूल्य को दिया जाता है, 'इच्छा स्वातंत्र्यवादी' बोध रहा है जिसमें स्वतंत्रता ही परम मूल्य होता है; 'क्रांतिकारी' दृष्टिकोण जिसमें न्याय का मतलब है कायापलट कर देना; 'दैवी' दृष्टिकोण जिसमें ईश्वर की इच्छा का निष्पादन ही न्याय है; 'सुखवादी' न्याय की कसौटी 'अधिकतम संख्या का अधिकतम लाभ' को बनाता है; 'समन्वयक' के लिए न्याय पर्याप्त संतुलन लाने हेतु विभिन्न मूल सिद्धांतों व मूल्य का समन्वय करना है। कुछ लोग न्याय को 'कर्त्तव्य' अथवा शान्ति व व्यवस्था कायम रखने के साथ पहचानते हैं; दूसरे, इसे एक अभिजात-वर्गवादी कार्य के रूप में देखते हैं; इस प्रकार, न्याय व्यक्ति के अधिकार के साथ-साथ समाज की सार्वजनिक शांति से भी संबंध रखता है।

5.2.1 न्याय और कानून

रोम के अधिवक्ताओं ने 'प्राकृत न्याय' संबंधी विचारों को राज्य के सकारी कानून के साथ जोड़ा। जैसे कि नागरिक कानून एवं राष्ट्रिक कानून प्राकृत कानून के साथ मेल खाते हैं। यह वैसे न्यायशास्त्र की एक दुर्बोध अवस्था है। वस्तुतः, न्याय सकारी कानून को लागू किए जाने में निहित होता है। कानून व न्याय दोनों ही सामाजिक व्यवस्था कायम रखने का प्रयास करते हैं। जॉन ऑस्टिन इस बात के मुख्य समर्थक हैं, जो बतलाते हैं कि कानून को एक ओर न्याय के साधन रूप में और दूसरी ओर अनिष्ट को रोकने के साधन रूप में काम करना पड़ता है।

वैध रूप से, न्याय-व्यवस्था को अन्यायपूर्ण कहकर आलोचना की जा सकती है, यदि वह कानून-व्यवस्था की प्रक्रियाओं द्वारा वांछित निष्पक्षता के मानक तक पहुँचने में असमर्थ रहती है। यथा अभियुक्त अपने विरुद्ध लगाये गए आरोपों से अवगत होना चाहिए; उसे अपने बचाव के लिए एक सकारण अवसर दिया जाना चाहिए आदि, जबकि नैतिक रूप से, किसी कानून को अनुचित कहा जा सकता है यदि वह न्याय-संबंधी नैतिक विचारों से मेल न खाता हो। नैतिकता, बहरहाल, न्याय से अधिक महत्त्व रखती है।

न्याय के प्रतीक को प्रायः आँखें बंद किए हुए के रूप में प्रस्तुत किया जाता है, क्योंकि उसको निष्पक्ष माना जाता है। ताकि दो सिरों – धनवान या ग़रीब, उच्च अथवा निम्न के बीच, कोई भेदभाव न रहे। इसी कारण, निष्पक्षता न्याय की एक पूर्व शर्त बन जाती है। तो फिर क्या इसका मतलब, न्याय को पक्षपात की कतई ज़रूरत नहीं पड़ती?

5.2.2 न्याय और भेदभाव

प्लैटो और अरस्तू ने न्याय की एक भिन्न व्याख्या हेतु तर्क दिया – ''न्याय-निष्ठता'' के विचार सहित ''आनुपातिक समानता''। न्याय की सैद्धांतिक व्याख्या अरस्तू के पास पहुँचकर एक आनुभविक दिशा पकड़ लेती है जो कहते हैं : ''जब समानों से असमान रूप से व्यवहार किया जाता है, तो अन्याय उत्पन्न होता है।'' इसका मतलब कि यदि किसी लोकतंत्र में लिंग के आधार पर भेदभाव होता हो तो इसका अर्थ समानों के साथ असमानरूप से व्यवहार करना है। इसी तरह, एक 80-किग्रा. (heavy-weight) पहलवान को एक 60-किग्रा. (light-weight) पहलवान के सामने लड़ने के लिए प्रस्तुत करना भी अनुचित होगा। इस प्रकार, न्याय अपेक्षा करता है कि भिन्नताओं के आधार पर भेदभाव हो, जो कि निष्पादित कार्यों के लिए प्रासंगिक है। प्लैटो के न्याय-संबंधी सिद्धांत का निहितार्थ था कि लोगों का जीवन कार्यात्मक विशेषज्ञता नियम के अनुरूप होना चाहिए। यहाँ न्याय 'सही स्थान' सिद्धांत का दूसरा नाम हो जाता है, यथा किसी आदमी को बस उसी काम का ही अभ्यास करना चाहिए जिसके प्रति उसका स्वभाव सर्वाधिक अनुकूल है। इसके वैयक्तिक व सामाजिक दोनों ही पहलू होते हैं। व्यक्ति व समाज, दोनों की ही सबसे ज़्यादा भलाई इसी में रहेगी यदि हम यह सत्य मान लें कि किसी व्यक्ति के लिए इससे अच्छी बात नहीं होगी कि वह ऐसा काम करे, जिसके लिए वह सर्वाधिक उपयुक्त हो। ठीक इसी प्रकार, समाज के लिए इससे बेहतर कोई बात नहीं होगी कि यह देखे कि हर व्यक्ति उसी स्थान को ही भरे जिसके लिए वह अपने व्यक्तित्व की विशेषता के आधार सर्वाधिक योग्य हो। इसके लिए व्यक्ति व राज्य के लिए बुद्धि, शक्ति व प्रवृत्ति संबंधी तीन मूल तत्त्वों पर ज़ोर दिया गया है, ताकि वे उनको उचित मर्यादा में रखें।

साथ ही, सामान्यतः कानून निजी जीवन में विभेदकारी व्यवहार की घटनाओं में हस्तक्षेप नहीं करता। परन्तु इससे यदि सामाजिक हानि पहुँचती हो, तो राज्य का इसमें हस्तक्षेप करना न्यायसंगत होगा, जैसे अस्पृष्यता की घटनाओं में, जहाँ कुछ समुदायों को मानवाधिकारों से वंचित कर दिया जाता है। इसी कारण, इसके विरुद्ध कोई भी कानून न्यायसंगत होगा। इसी तरह, अलग से दी गई सुविधाएँ वस्तुतः समान नहीं हो सकतीं। यही कारण है कि डॉ॰ अम्बेडकर ने अनुसूचित जातियों के लिए मंदिरों में प्रवेष के अधिकार की माँग की और उनके लिए पृथक् मंदिरों, विद्यालयों अथवा छात्रावासों का विरोध किया।

बोध प्रश्न 1

नोटः अ) अपने उत्तर के लिए नीचे दिये गये स्थान का उपयोग करें।

ब) अपने उत्तर को इकाई के अंत में दिये गये उत्तर से मिलायें।

1) न्याय क्या है?

.....

.....

.....

.....

2) न्याय की अवधारणा में भेदीकरण कैसे समाविष्ट होता है?

.....

.....

.....

.....

.....

5.3 वितरणकारी न्याय

अरस्तू की धारणा उस सिद्धांत की नींव रखने वाली सिद्ध हुई, जिसको 'वितरणकारी न्याय' कहा जाता है। अरस्तू की व्याख्या का महत्त्वपूर्ण निहितार्थ यह है कि न्याय या तो 'वितरणात्मक' होता है अथवा 'दोषनिवारक'; पूर्ववर्ती अपेक्षा करता है कि समानों के बीच समान वितरण हो और परवर्ती वहाँ लागू होता है, जहाँ किसी अन्याय का प्रतिकार किया जाता है।

वह सिद्धांत जो मार्क्स ने क्रांति-पश्चात् साम्यवादी समाज में वितरणकारी न्याय हेतु प्रस्तुत किया, वो है – 'हर एक से उसकी क्षमता के अनुसार, हर एक को उसके काम के अनुसार'। वितरणकारी न्याय का विचार कुछ हाल के राजनीतिक अर्थशास्त्रियों की पुस्तकों में प्रकट होता है। इस संदर्भ में, जे.डब्ल्यू. चैपमैन की पुस्तक प्रशंसनीय है, जो 'मनुष्य की आर्थिक तर्कशक्ति' संबंधी अपने सिद्धांतों को 'नैतिक स्वतंत्रता' संबंधी व्यक्तिगत दावे से जुड़ी 'उपभोक्ता की संप्रभुता' से जोड़ने का प्रयास करते हैं। उनके अनुसार, न्याय का प्रथम सिद्धांत उन लाभों का वितरण होना प्रतीत होता है, जो उपभोक्ताओं के सिद्धांतों के अनुसार लाभ-वृद्धि करते हों। दूसरा सिद्धांत यह है कि ऐसी व्यवस्था अन्यायपूर्ण होती है, यदि मात्र कुछ लोगों के भौतिक कल्याण को अनेक लोगों की कीमत पर खरीद लिया जाता है। इसका अर्थ यह है कि न्याय यह अपेक्षा करता है कि कोई भी व्यक्ति दूसरे की कीमत पर लाभ प्राप्त न करे।

5.3.1 वितरणकारी न्याय और आर्थिक न्याय सुनिश्चित करना

वितरणकारी न्याय आम कल्याण की शर्त के अधीन है। वह चाहता है कि राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की स्थिति को इस प्रकार सुधारा जाए कि लाभ आम आदमी तक पहुँच सकें। इस तरीके से आर्थिक न्याय की धारणा का अर्थ होगा समाज का एक साम्यवादी प्रतिमान।

आर्थिक न्याय का पहला काम है, हर सक्षम-देही नागरिक को रोज़गार, खाद्य, आश्रय व वस्त्रादि मुहैया कराना। सभी की प्राथमिक व मौलिक आवश्यकताओं को पूरा करने के इस क्षेत्र के संबंध में यह ठीक ही कहा गया है कि स्वतंत्रता अर्थहीन है, यदि वह आर्थिक न्याय दिलाने में रुकावट डालती है। तदनुसार, उदारवादीजन यह मानते हैं कि आर्थिक न्याय समाज में हासिल किया जा सकता है, यदि राज्य कल्याणकारी सेवा प्रदान करता हो और वहाँ कराधान की सुधारवादी व्यवस्था हो; सामाजिक सुरक्षा वाले रोज़गार प्रबन्ध हेतु अच्छी आमदनी हो, जैसे वृद्धावस्था पेंशन, आनुतोशिक एवं भविष्य निधि।

तथापि, न्याय-संबंधी मार्क्स के विचार का मूल अर्थशास्त्र के क्षेत्र में ही है। मार्क्स के अनुसार, राज्य का सरकारी कानून उस वर्ग-विशेष के प्राधिकार द्वारा ही अपने सदस्यों पर थोपा जाता है, जो उत्पादन के साधनों को नियंत्रित करता है। कानून शासक वर्ग के न्याय

आर्थिक हित द्वारा तय किया जाता है। जब निजी सम्पत्ति को समाप्त कर दिया जाता है और कामगार वर्ग उत्पादन-साधनों पर नियंत्रण कर लेता है, तो ये कानून कामगार वर्गके हित को सोचने-विचारने के लिए बाध्य होते हैं। इसी कारण, न्याय की विषयवस्तु उत्पादन-साधनों पर नियंत्रण रखने वाले वर्ग पर निर्भर करती है। जब राज्य का क्षय हो जाएगा, जैसा कि साम्यवादी जन इरादा रखते हैं, तो यहाँ आर्थिक मूल के बग़ैर न्याय व्याप्त हो जाएगा।

आधुनिक उदारवादी जन काफ़ी लम्बे समय से आर्थिक अहस्तक्षेप संबंधी आम सिद्धांत को छोड़ चुके हैं। पुनर्वितरणकारी न्याय (जिसकी अरस्तू ने बात की) 'संशोधन उदारवाद' का एक अभिन्न हिस्सा है, जिसका कि जे.डब्ल्यू. चैपमैन, जॉन राल्स, व अर्थर ओकुन ने समर्थन किया। इन लेखकों ने सभी के लिए न्याय व स्वतंत्रता के हितार्थ अर्थव्यवस्था में राज्यीय हस्तक्षेप के अपने आशय के साथ ''पुनर्वितरणकारी न्याय'' की वकालत की।

बोध प्रश्न 2

नोटः अ) अपने उत्तर के लिए नीचे दिये गये स्थान का उपयोग करें।

ब) अपने उत्तर को इकाई के अंत में दिये गये उत्तर से मिलायें।

1) वितरणकारी न्याय से आप क्या समझते हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

5.4 सामाजिक न्याय

सामाजिक न्याय विद्यमान कानूनों के तहत किसी व्यक्ति की न्यायसंगत अपेक्षाओं की पूर्ति सुनिश्चित करते हुए उस व्यक्ति के अधिकार व सामाजिक नियंत्रण के बीच संतुलन से ताल्लुक रखता है और उसे लाभों व उसके अधिकारों के किसी भी अतिक्रमण से बचाव की गारण्टी देता है। चलिए, न्याय के निम्नलिखित पहलुओं के लिहाज से 'सामाजिक न्याय 'शब्दपद पर सूक्ष्म दृष्टि डालते हैं, यथा एक, सामुदायिक हित के प्राबल्य की धारणा और दो, 'सुधार' अथवा सामाजिक परिवर्तन की धारणा।

5.4.1 सामुदायिक हित का प्राबल्य

बाज़ार आदि मामलों में अहस्तक्षेप सिद्धांत के ह्रास के साथ ही एक नई जानकारी विकसित हुई कि किसी व्यक्ति के अधिकार समुदाय-विशेष के हित में युक्तिसंगत रूप से सीमाबद्ध होने चाहिए, ताकि सामाजिक न्याय का उद्देश्य वैयक्तिक अधिकारों व सामुदायिक हित के बीच सामंजस्य की अपेक्षा रखे। वह यह भी मानकर चलता है कि इन दोनों के बीच किसी विवाद की दिशा में, सामुदायिक हित वैयक्तिक विषयों से अवश्य ही ऊपर रहना चाहिए। सामाजिक न्याय, तदनुसार, उस धारणा से गहरे जुड़ा हुआ है जिसमें आम भलाई अथवा सामुदायिक हित शामिल हैं। आज सामाजिक व आर्थिक क्षेत्रों में लोकतंत्र के प्रवेश के साथ ही, सामुदायिक हित के दायरे में न सिर्फ़ राजनीतिक (राजनीतिक मामलों में उचित व्यवहार) बल्कि सामाजिक (सामाजिक क्षेत्रों में अभेदभाव) व आर्थिक (आय व सम्पत्ति का

उचित वितरण) क्षेत्र भी आने लगे हैं। इस प्रकार, सामाजिक न्याय की शृंखला अल्पसंख्यक राजनीतिक अधिकारों की रक्षा से लेकर अस्पृष्यता निवारण एवं ग़रीबी उन्मूलन तक फैली है। जैसे कि, विश्व के पिछड़े देशों में, सामाजिक न्याय संबंधी धारणा राज्य को आदेश देती है कि वह समुदाय के पददलित एवं कमज़ोर वर्गों की उन्नति के लिए ठोस प्रयास करें।

5.4.2 सुधार अथवा सामाजिक परिवर्तन

सामाजिक न्याय को आजकल निष्पक्षता व समानता संबंधी धारणाओं के आधार पर समाजके संगठन को इंगित करने के लिए प्रयोग किया जाता है। यह सामाजिक व्यवस्था पर विचारकर उसे बदलने का प्रयास करता है, ताकि एक अधिक साम्यिक समाज बन सके। मनुष्य युगों से सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तनों का प्रयास करता रहा है, ठीक उतना ही जितना कि वह एक प्रदत्त सामाजिक व्यवस्था को बचाये रखने का प्रयास करता रहा है। सामाजिक न्याय का अर्थ है – सुधारवादी न्याय, सामाजिक व्यवस्था पर विचारकर उसे बदलना और निष्पक्षता संबंधी सामयिक विचारों से मेल खाते अधिकारों का पुनर्वितरण। जब अरस्तू ने 'वितरणकारी न्याय' की बात की थी, तो वह सुधारवादी, अथवा जिसे राफ़ेल ''कृत्रिम अंगी'' कहते हैं, न्याय की बात दिमाग़ में रखते थे, क्योंकि इसका उद्देश्य यथास्थिति में किंचित् हेर-फेर करना था।

कोई सौ वर्ष पहले, न्याय सरकार से यह अपेक्षा नहीं रखता था कि बेरोज़गारों का ध्यान रखे। इस काम की अपेक्षा दातव्य (charity) संस्थान से की जाती थी। ''सुधारवादी'' अथवा ''कृत्रिम अंगी'' न्याय संबंधी विचारों की युक्ति से आज यह राज्य का कर्त्तव्य है कि बेरोज़गारों का ध्यान रखे और उन्हें रोज़गार मुहैया कराये।

5.4.3 सामाजिक न्याय संबंधी पाउण्ड का चित्रण

सामाजिक न्याय संबंधी धारणा की अभिपुष्टि डीन रौस्को पाउण्ड की व्याख्या में बहुत अच्छी तरह की गई है, जो सामाजिक हित का छह-सतही चित्रण प्रस्तुत करते हैं और सामाजिक न्याय सुनिश्चित करने के लिए आठ कानूनी यानी अधिकार व कर्त्तव्य संबंधी अभिधारणाएँ सामने रखते हैं। तदनुसार, सामाजिक न्याय संबंधी धारणा एक न्याय-संगत सामाजिक व्यवस्था सुनिश्चित कर लोगों के कल्याण को प्रोत्साहन देने की परिकल्पना करती है।

5.4.4 सामाजिक न्याय संबंधी आलोचना

सामाजिक न्याय संबंधी सिद्धांतों की तीन आधारों पर आलोचना की जाती है। प्रथम, सामाजिक न्याय हेतु माँगें, उलझाव में डालकर, राज्य के क्रियाकलापों में इज़ाफा कर देती हैं। राज्य को तब तय करना पड़ेगा कि ''कौन क्या, कब और कैसे प्राप्त करे''। जहाँ राज्य के अधिकारीगण निहित स्वार्थों को प्रकट करते हों, ऐसा काल्पनिक संकल्प सामाजिक न्याय के उद्देश्यों को पूरा करने वाला नहीं है। दूसरे, सामाजिक न्याय संबंधी नीतियों एवं उनको लागू किए जाने में आज़ादी की काट-छाँट किए जाने की आवश्यकता पड़ती है। कितने महत्त्वपूर्ण/कितने साधारण सामाजिक न्याय के लिए कितनी आज़ादी कुर्बान की जाये – यह एक मुश्किल से ही सुलझाई जा सकने वाली समस्या बन जाती है। अन्ततः, यह निर्धारित करना मुश्किल होता है कि ऐसी बुनियादी आवश्यकताएँ कौन-सी हैं, जिनका सामाजिक न्याय के मापदण्डों को पूरा करने हेतु निवारण किया जाना है और कौन-सी समानता को छोड़ देना उचित ठहराती हैं।

तथापि, जब भारतीय संविधान विधानमंडल, शैक्षणिक संस्थाओं एवं सार्वजनिक रोज़गार में स्थानों के आरक्षण की घोषणा करता है, तो वह समानता से दूर जाना आवश्यक बना देता

है। न्याय के संबंध में इन नीतियों के लिए अनेक कारण बताए जाते हैं। प्रथमतः यह कि ऐसा बर्ताव वंचनाओं से भरे सौ सालों की क्षतिपूर्ति कर देता है, दूसरे यह कि ये उपाय वंचितों को समाज के साथ ही समान दृढ़स्थिति में लाने के लिए मूलभूत समानता का अनुभव कराने हेतु आवश्यक हैं और तीसरे, यह कि न्याय केवल तभी किया जा सकता हैजबकि राज्य उनका सामाजिक सम्मान, आर्थिक जीवन क्षमता एवं राजनीतिक प्रतिष्ठा दिलाने में मदद करने रियायती नीतियाँ लेकर आगे आये।

बोध प्रश्न 3

नोटः अ) अपने उत्तर के लिए नीचे दिये गये स्थान का उपयोग करें।

ब) अपने उत्तर को इकाई के अंत में दिये गये उत्तर से मिलायें।

1) सामाजिक न्याय क्या है?

.....

.....

.....

.....

.....

5.5 प्रक्रियात्मक न्याय

न्याय संबंधी एक अपेक्षाकृत अधिक अनुदार दृष्टिकोण वह है, जिसे 'प्रक्रियात्मक न्याय'कहा जाता है। इस अर्थ में यह शब्द धन-दौलत व लाभों के पुनर्वितरण की प्रयोग-विधि बतलाने में इतना इस्तेमाल नहीं होता, जितना कि वैयक्तिक कार्यों हेतु व्यवहृत नियमों व प्रक्रियाओं के लिए। अनिवार्यतः वह मानवीय कार्यों में मनमानेपन को दूर करने व कानून के शासक का समर्थन करने का प्रयास करता है। इस अवधारणा में व्यष्टियाँ होती हैं, न कि समष्टियाँ। इस दृष्टिकोण से, नियमों व प्रक्रियाओं का साथ न देते हुए, लाइन तोड़कर आगे पहुँचना अथवा प्रतिस्पर्धा में कुछ प्रतिभागियों को अनुचित लाभ देना अन्याय कहलायेगा। प्रक्रियात्मक सिद्धांतियों (उदाहरणतः हयेक) का मानना है कि सम्पत्ति के पुनर्वितरण हेतु मापदण्डों को थोपना सर्व-सत्तावाद और आज़ादी की एक नाज़ायज कुर्बानी की ओर प्रवृत्त करेगा। इसमें राज्य द्वारा निरन्तर हस्तक्षेप शामिल है, ताकि समानता द्वारा अपेक्षित प्रतिमान कायम रहे। उन्हें लगता है कि यदि राज्य किसी कल्याणकारी नीति को अपना भी लेता है, तो उसका न्याय से कम ही सरोकार होता है।

प्रक्रियात्मक सिद्धांत के समालोचकों का तर्क है कि महज नियमों का पालन मात्र ही कोई उचित परिणाम सुनिश्चित नहीं कर देता। किसी सामाजिक प्रसंग में बनाये गए नियम कुछ ही समुदायों के पक्ष में विचारे जाते हैं। इसी कारण, एक स्वतंत्र प्रतिस्पर्धा हमेशा एक निष्पक्ष प्रतिस्पर्धा नहीं हो सकती। दूसरे, मुक्त-बाज़ार सम्बंध उन व्यक्तियों के लिए समान रूप से दमनकारी हो सकते हैं, जिनके पास आर्थिक शक्ति का अभाव है; उनके लिए एक मुक्तबाज़ार की आज़ादी अर्थहीन होगी।

5.6 जॉन रॉल्स का न्याय-सिद्धांत

विभिन्न राजनीतिक सिद्धांत 'एक वास्तविक रूप से न्यायसंगत सामाजिक व्यवस्था क्या होगी' संबंधी विभिन्न चित्र प्रस्तुत करते हैं। इनमें से दो सिद्धांत हैं – उपयोगितावादी

सिद्धांत, और निष्पक्षता के रूप में न्याय संबंधी रॉल्स का सिद्धांत। उपयोगितावादी सिद्धांत का दावा है कि वह सामाजिक व्यवस्था जिसमें बड़ी से बड़ी संख्या में लोग अपनी उपयोगिता की उच्चतम संतुष्टि पा सकते हैं, न्यायसंगत है। परन्तु इसके बिल्कुल शुरुआती दिनों से ही समालोचकों को उपयोगितावाद के होते हुए भी बड़ी ही दिक्कतों का सामना पड़ा है। इस पृष्ठभूमि में, उपयोगितावाद के विकल्प रूप में, रॉल्स के सिद्धांत का प्रस्ताव किया गया है। रॉल्स की पुस्तक, थिअरी ऑफ जस्टिस, इस अवधारणा की एक निर्णायक व्याख्या देती है।

न्याय-संबंधी जॉन रॉल्स के सिद्धांत पर चर्चा करने के लिए, पहले उसके नैतिक समस्याओं पर पहुँचने के तरीके का उल्लेख आवश्यक है, जो कि सामाजिक सिद्धांत की संविदावादी परम्परा में देखा जाता है। परन्तु साथ ही, रॉल्स का सिद्धांत यह आवश्यक बनाता है कि नैतिक विवेचन के निष्कर्ष हमेशा सहज-ज्ञान द्वारा अनुभूत नैतिक धारणाओं के मुकाबले जाँचे व पुनर्व्यवस्थित किए जाएँ, और यह बात संविदावादी परम्परा में उन दूसरे लोगों के विपरीत है जो यह दावा करते हैं, कि न्याय के नियम वो होते हैं जिन पर एक परिकल्पित परिवेश में सहमति होती है।

रॉल्स मनुष्य को एक परिकल्पित मूल व्यवस्था में 'अज्ञानता के परदे' के पीछे रखते हैं, जहाँ व्यक्तिजन अपनी आवश्यकताओं, हितों, कौशलों, योग्यताओं संबंधी एवं उन वस्तुओं संबंधी, जो वर्तमान समाजों में विवाद पैदा करती हैं, बुनियादी जानकारी से वंचित रहते हैं। परन्तु उनके पास एक चीज़ ज़रूर होगी, जिसे रॉल्स 'न्याय-बोध' कहते हैं।

इन परिस्थितियों के तहत, रॉल्स का दावा है, लोग शाब्दिक क्रम में न्याय संबंधी दो सिद्धांतों को सहर्ष स्वीकार करेंगे। पहला है 'समानता सिद्धांत', जिसमें हर व्यक्ति को दूसरों की सदृश स्वतंत्रता के अनुरूप ही सर्वाधिक व्यापक स्वतंत्रता का समान अधिकार होगा। यहाँ समान स्वतंत्रता को उदारवादी लोकतांत्रिक शासन-प्रणालियों के सुविदित अधिकारों के रूप में साकार किया जा सकता है। इनमें शामिल हैं – राजनीतिक भागीदारी हेतु समान अधिकार, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, धार्मिक स्वतंत्रता, कानून के समक्ष स्वतंत्रता, इत्यादि। दूसरे सिद्धांत को 'भिन्नता सिद्धांत' कहा जाता है, जिसमें रॉल्स का तर्क है कि असमानताओं को केवल तभी सही ठहराया जा सकता है, यदि उनसे निम्नतम लाभांवितों को लाभ पहुँचता हो।

न्याय-संबंधी जॉन रॉल्स की अवधारणा के दो पहलू हैं। प्रथम, वह एक ''संवैधानिक लोकतंत्र'' की माँग करती है, यानी कानूनों की सरकार और वो ऐसी हो जो वश में हो, जवाबदेह हो और जिम्मेवार हो। दूसरे, वह ''एक निश्चित रीति से'' मुक्त अर्थव्यवस्था केनियमन में विश्वास करती है। ''यदि कानून व सरकार'', रॉल्स लिखते हैं, ''बाज़ार को प्रतिस्पर्धात्मक रखने, संसाधनों को पूरी तरह नियोजित रखने, सम्पत्ति व समृद्धि व्यापक रूप से समयोपरि वितरित कर देने एवं उचित सामाजिक न्यूनातिन्यून को कायम रखने हेतु प्रभावी रूप से काम करते हैं, तब यदि सभी के लिए शिक्षा द्वारा दायित्व-स्वीकृत अवसर की समानता हो, तो परिणामित वितरण न्यायपूर्ण होगा''।

''पुनर्वितरणवादी'' भी अपनी समालोचनाएँ प्रस्तुत करते हैं। तदनुसार, म्यैर एफ. प्लैटनरन्याय-संबंधी दृष्टिकोण के खिलाफ़ दो दावे पेश करते हैं। पहला, उनका विश्वास है कि यद्यपि समानता एक स्नेह–पालित मूल्य है, इसे सामर्थ्य की कीमत पर हासिल करना संभव नहीं हो सकता। प्लैटनर के अनुसार, यह समानता बनाम बढ़ी समृद्धि की समस्या रॉल्स को एक परस्पर विरोध में डाल देती है। इस प्रकार, एक ओर रॉल्स ''उनको इस बात को स्वीकार करने से एकदम इंकार करते हैं कि वे जो ज़्यादा आर्थिक योगदान देते हैं, ज़्यादा आर्थिक

प्रतिफल का हक रखते हैं''। यद्यपि, दूसरी ओर उनका ''विभिन्नता सिद्धांत'' (जो यह निर्दिष्ट करता है कि ''सामाजिक व आर्थिक असमानताओं को व्यवस्थित किया जानाहै, ताकि वे न्यूनतम लाभांवितों के अधिकतम लाभ हेतु हों'') फिर भी दृढ़तापूर्वक कहता हैकि उन्हें अधिक आर्थिक पारितोषिक प्रदान करना न्याय-संगत है, जहाँ तक कि वे उन तरीकों से अपने योगदान में वृद्धि करने हेतु प्रोत्साहनों के रूप में काम करते हों जो अन्तोगत्वा अलाभांवितों को लाभ पहुँचाते हों।

दूसरा दावा जो प्लैटनर करते हैं, वो हैं कि पुनर्वितरणवादी चाहता है कि व्यक्ति को उसके'' खरे परिश्रम'' के पारितोषिक से इंकार कर दिया जाए, और उसकी बजाय वह सारे उत्पादन को समग्र समान की ''सार्वजनिक सम्पत्ति'' के रूप में मानते हैं। साथ ही, प्लैटनर हमें विश्वास दिलाना चाहते हैं कि यह ''निजी सम्पत्ति संबंधी नैतिक आधारों और उसके साथ ही उदारवादी समाज'' को गुप्त रूप से क्षति पहुँचाता है।

बोध प्रश्न 4

नोटः अ) अपने उत्तर के लिए नीचे दिये गये स्थान का उपयोग करें।

ब) अपने उत्तर को इकाई के अंत में दिये गये उत्तर से मिलायें।

1) जॉन रॉल्स के न्याय के सिद्धांत की चर्चा कीजिये।

.....

.....

.....

.....

.....

5.7 न्याय : संयोजन का एक शब्द

शायद न्याय हेतु सबसे अच्छा दृष्टिकोण इसे एक सामंजस्य-संबंधी शब्द के रूप में देखना है। न्याय की समस्या सुलह-संबंधी समस्या है। न्याय का कार्य विभिन्न स्वतंत्रताओं (राजनीतिक, सामाजिक व आर्थिक) का एक दूसरे के साथ तुष्टिकरण; विभिन्न समानताओं (राजनीतिक, सामाजिक व आर्थिक) का एक-दूसरे के साथ और सामान्यतः स्वतंत्रता का उसके सभी रूपों में, मिलाप कराने का काम ही है। संक्षेप में, न्याय का अर्थ है विवादग्रस्त मूल्यों का सामंजस्य और उनको एक साथ किसी साम्यावस्था में रखना।

अनेक जाने-माने लेखकगण स्वतंत्रता बनाम समानता का पक्ष लेना पसंद करते हैं। लॉर्डऐक्टन कई साल पहले ही यह स्मरणीय उद्घोषणा कर चुके थे कि ''समानता हेतु सनकने स्वतंत्रता की आशा को व्यर्थ कर दिया है'' (वह फ्रांसीसी क्रांति के संदर्भ में बोल रहे थे)। ''सिर्फ़ स्वतंत्रता'' के हिमायतियों, उदाहरणार्थ डब्ल्यु. ई. लकी अपनी पुस्तक *डिमोक्रेसी एण्ड लिबर्टी* में, का दावा है कि ''समानता केवल स्वाभाविक विकास के एक कठोर दमन के द्वारा ही मिलती है।''

दरअसल, स्वतंत्रता और समानता दोनों ही महत्त्वपूर्ण हैं, जैसा कि कैरिट का कथन है, दोनों ही एक-दूसरे के लिए आवश्यक हैं। यदि समानता है, तो स्वतंत्रता ज़्यादा संतोष प्रदान करेगी। और, साथ ही, यह स्वतंत्रता ही है जो व्यक्ति को समानता की माँग करने के योग्य बनाती है। आदमी को आज़ादी दो और वह अभी, नहीं तो बाद में, समानता की माँग करेगा। स्वतंत्रता व समानता के बीच अन्तर्संबंध पर अनेक तरीकों से प्रकाश डाला जा सकता है।

बोलने और वोट देने की स्वतंत्रता का ही उदाहरण ले लें, ये दोनों ही धन-संपत्ति के भारी असमान वितरण द्वारा निष्प्रभ किए जा सकते हैं। धनी जन न सिर्फ़ प्रतिस्पर्धा करने बल्किप्रचार करने हेतु भी एक बेहतर स्थिति में होते हैं। उनके पास प्रचार माध्यमों तक अपेक्षाकृत आसान पहुँच होती है। हैरॉल्ड लास्की के शब्द आज भी सत्य लगते हैं : ''असमानों के समाज में अपनी स्वतंत्रता का दावा करने वाले व्यक्ति के हर प्रयास को ताकतवरों द्वारा चुनौती दी जायेगी।'' संक्षिप्त में, हम पाते हैं कि राजनीतिक स्वतंत्रता एवं आर्थिक लोकतंत्र को कन्धे से कन्धा मिलाकर चलना पड़ता है। और, यदि विभिन्न राजनीतिक मूल्यों पर सूक्ष्मदृष्टि डालें, तो पायेंगे कि यद्यपि ऊपरी तौर से वे परस्पर विरोधी हो सकती हैं, ध्यापूर्वक न्याय देखे जाने पर वे संपूरक एवं अन्तर्सम्बद्ध पायी जाएँगी। बहरहाल, यह न्याय का काम है कि विविध एवं प्रायः–विरोधी मूल्यों के बीच संयोजन या सामंजस्य स्थापित करे। न्याय ही अन्तिम सिद्धांत है, जो स्वतंत्रता के साथ-साथ समानता के भी हित में विभिन्न अधिकारों (राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक) के वितरण को नियंत्रित करता है।

न्याय संबंधी इस प्रकार की अवधारणा एक सामाजिक विचार की विकास-प्रक्रिया के रूप में ऐतिहासिक रूप से विकसित होती है। इस अर्थ में यह एक विकासमान अवधारणा है जो समाज की वास्तविकता एवं अभिलाषा को प्रतिबिम्बित करती है।

5.8 सारांश

हमने जो अब तक देखा वह यह छाप छोड़ता है कि न्याय अनिवार्यतः एक नियामक संकल्पना है, जिसका स्थान अनेक क्षेत्रों में है, जैसे धर्म, नीतिशास्त्र एवं कानून, यद्यपि इसके शाखा-विन्यास में सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक क्षेत्र आते हैं।

निष्पक्षता न्याय की एक अनिवार्य शर्त है। निष्पक्षता का अर्थ बिना भेदभाव के सबके साथ समान रूप से व्यवहार करना नहीं है। एक व्याख्या है – समानों के साथ समान रूप से और असमानों के साथ असमान रूप से सुलूक करना। परन्तु मुख्य रूप से विभेदीकरण को प्रासंगिक मानदण्डों पर ही रहना पड़ता है।

न्याय चाहता है एक न्यायसंगत आधार पर मूल्यों का विभेदीकरण। विभिन्न सिद्धांत इनकी व्यवस्था का समर्थन अथवा छिद्रान्वेषण करते हैं। सामाजिक न्याय लोगों की आवश्यकताओं पर ज़ोर देता है। वह भारतीय सामाजिक संदर्भ में रियायती नीतियों का भी आह्वान करता है। इसके विपरीत, प्रक्रियात्मक न्याय कानून के शासन और यादृच्छिकता के विलोपन की अपेक्षा रखता है।

न्याय संबंधी रॉल्स के सिद्धांत में लोगों को सामाजिक व्यवस्था संबंधी एक विकल्प चुनना पड़ता है। वे स्वाभावतः एक इच्छा स्वातंत्र्यवादी समाज चुनेंगे। यह सिद्धांत सभी को समान मौलिक स्वतंत्रताएँ प्रदान करता है। असमानताएँ सभी के लिए खुले उच्चपदों से जुड़ी होनी चाहिए। उन्हें सबसे अधिक अलाभांवित वर्ग को लाभ पहुँचना चाहिए।

अन्त में, तथापि न्याय संबंधी गहरी व जटिल बहस में पड़ने की बजाय, यह कहना सार्थक होगा कि सभी महत्त्वपूर्ण राजनीतिक मूल्यों का यही संयोजी बन्ध (converting bond) है। उदाहरण के लिए, यदि समानता के मानदण्ड का उल्लंघन किया जाता है, तो स्वतंत्रता कायम नहीं रहेगी और यदि न्याय नहीं होगा तो समानता नहीं रहेगी। स्पष्ट है कि न्याय स्वतंत्रता एवं समानता के मानदण्डों से अभिन्न रूप से जुड़ा है। इसी प्रकार, हम कह सकते हैं कि यदि कोई अधिकार अस्तित्व में नहीं है, तो कोई आज़ादी नहीं रहेगी और यदि न्याय-

प्रबन्ध सुनिश्चित करने हेतु कानून की कोई सुसंगठित व्यवस्था नहीं है, तो अधिकारों की कोई रक्षा नहीं होगी। पुनः स्पष्ट है कि न्याय-संबंधी धारणा अनिवार्यतः अधिकारों व कानून की अवधारणाओं से जुड़ी है। इस दशा में सबसे ग़ौरतलब बात यह है कि न्याय-संबंधी धारणा न सिर्फ़ कानून, स्वतंत्रता, समानता व अधिकारों संबंधी मानदण्डों से अभिन्न रूप से जुड़ी है, यह अनिवार्य सम्बन्ध भी स्थापित करती है। न्याय इस अर्थ में राजनीतिक मूल्यों का पुनर्संधि स्थापक और संयोजक है। डैनियल वैब्स्टरने बिल्कुल ठीक ही कहा कि न्याय ''मनुष्य का प्रधानतम हित है''।

5.9 संदर्भ

ऐलन, सी.के., *ऐस्पैक्ट्स ऑफ जस्टिस,* स्टीवन एण्ड सन्ज़, लंदन, 1955

बेकर, अर्नेस्ट, *प्रिंसिपॅल्स ऑफ़ सोशल एण्ड पॅलिटिकॅल थिअरी,* लंदन, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी,लंदन, 1967

बैरी, नॉर्मन पी., *एन इण्ट्रोडक्शन टु माडर्न पॅलिटिकॅल थिअरी,* मैकमिलन, लंदन, 1981

राफ़ैल, डी.डी., *प्रॉब्लम्स ऑफ़ पॉलिटिकॅल फ़िलोसॅफ़ी,* मैकमिलन, लंदन, 1976 (द्वितीयसंस्करण)

5.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) अपने उत्तर में न्याय की समतावादी, इच्छा स्वातंत्रयवादी, देवी और सुखवादी संकल्पनाओं पर प्रकाश डालें।

2) न्याय के लिए भिन्नताओं के आधार पर भेदभाव की जरूरत होती है।

बोध प्रश्न 2

1) अपने उत्तर में निम्न बिंदुओं पर प्रकाश डालें–

- वितरणकारी न्याय सामान्य कल्याण की बात करता है।
- आर्थिक लाभ आम इंसान तक पहुँचना चाहिए।
- उदारवादी और मार्क्सवादी दृष्टिकोण।

बोध प्रश्न 3

1) अपने उत्तर में निम्न बिंदुओं पर प्रकाश डालें–

- सामाजिक न्याय वैयक्तिक अधिकार तथा सामाजिक नियंत्रण के बीच संतुलन की बात करता है।
- राज्य का हाशिये पर जो समूह हैं, उनके हितों की रक्षा करनी चाहिए।

बोध प्रश्न 4

1) दूसरा सिद्धांत जिसे भिन्नता सिद्धांत भी कहा जाता है, इस बात पर जोर देता है कि असमानताओं को तभी उचित ठहराया जा सकता है जब उनसे निम्नतम लाभान्वितों का लाभ मिले।

इकाई 6 अधिकार*

इकाई की रूपरेखा

6.0 उद्देश्य

6.1 परिचय

6.2 अधिकारः अर्थ एवं प्रकृति

- 6.2.1 अधिकार का अर्थ
- 6.2.2 अधिकार की प्रकृति
- 6.2.3 विभिन्न अधिकार

6.3 अधिकार के सिद्धांत

- 6.3.1 प्राकृतिक अधिकार के सिद्धांत
- 6.3.2 विधिक अधिकार के सिद्धांत
- 6.3.3 अधिकार का ऐतिहासिक सिद्धांत
- 6.3.4 अधिकार का समाज-कल्याण सिद्धांत
- 6.3.5 अधिकार का मार्क्सवादी सिद्धांत

6.4 मानवाधिकार

6.5 सारांश

6.6 सन्दर्भ

6.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

6.0 उद्देश्य

इस इकाई में, आप अधिकारों की संकल्पना और उनसे जुड़े सैद्धांतिक-ढांचों का अध्ययन करेंगे। इस इकाई के अध्ययन के पश्चात्, आप इस योग्य होंगे किः

- अधिकारों के अर्थ की व्याख्या कर सकें;
- उनके प्रकृति की चर्चा कर सकें; तथा
- अधिकारों से जुड़े मुख्य सिद्धांतों का विस्तृत विवरण प्रस्तुत कर सकें।

6.1 परिचय

सही अर्थों में अधिकार वे सामाजिक दावे हैं जो व्यक्ति को आत्मप्राप्ति और अपने व्यक्तित्व का विकास करने में सहायता प्रदान करते हैं। यदि लोकतंत्र लोगों का शासन है तो उसे उसके अनुरूप होना होगा; क्योंकि वह लोकतंत्र ही अपने लोगों की बेहतर सेवा कर सकता है जो अपने लोगों के लिए अधिकारों की व्यवस्था बनाये रखे। राज्य कभी भी अधिकारों के प्रदाता नहीं होते, वे अधिकारों को मान्यता प्रदान करते हैं। सरकार कभी भी अधिकारों का अनुदान नहीं देती बल्कि उन्हें सुरक्षा प्रदान करती है। अधिकारों की उत्पत्ति समाज में एक विशेष सामाजिक परिस्थिति में होती है, और इस कारण ये अंततः सामाजिक होते हैं। अधिकार, व्यक्तियों के अधिकार हैं; ये व्यक्ति से सम्बंधित हैं; उनका अस्तित्व व्यक्तियों के लिए है; ये व्यक्तियों के द्वारा ही उनके व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिए प्रयोग में लाये जाते हैं।

*डॉ. एन.डी. अरोरा, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

6.2 अधिकारः अर्थ और प्रकृति

व्यक्ति और राज्य के बीच सम्बन्ध प्रत्येक राजनीतिक सिद्धांत के लिए महत्वपूर्ण प्रश्न रहा है। राजनीतिक दार्शनिकों ने इस बात को लेकर लगातार विचार-विमर्श किया है कि 'राज्य' और 'व्यक्ति' में कौन अधिक महत्वपूर्ण है और किसके ऊपर, किसका, क्या ऋण है। अनेक दार्शनिक, उदाहरण के तौर पर प्लेटो, यह विश्वास करते हैं कि राज्य अकेले ही न्याय की स्थापना कर सकता है और व्यक्ति का कार्य है कि वह अपनी क्षमता और योग्यता के अनुरूप अपने कर्तव्यों का निर्वहन करे। ऐसे दार्शनिकों को हम आदर्शवादी कहते हैं। कुछ अन्य दार्शनिकों, उदाहरण के लिए जॉन लॉक, का मानना है कि राज्य साध्य की प्राप्ति का साधन मात्र है, और व्यक्ति साध्य है; इसका अर्थ है कि व्यक्ति के अधिकार अनुलंघनीय और अबाध्य हैं। व्यक्तिगत अधिकारों का सिद्धांत आधुनिक युग की परिघटना है, जिसका प्रारम्भ 15वीं-16वीं शताब्दी में यूरोपीय देशों में हुआ; ये अधिकार राज्य की निरंकुशता के विरुद्ध गारंटी हैं, इस कारण से समाज में इनकी उत्पत्ति होने का आभास केवल आधुनिक युग में ही हो पाया। अधिकार व्यक्ति से सम्बंधित होते हैं, इस कारण ये राज्य के पास नहीं होते। अधिकार व्यक्तियों के अधिकार हैं इस कारण व्यक्तियों के विकास के लिए ये अनिवार्य परिस्थितियां हैं। अधिकार हमारी सामाजिक प्रकृति के उत्पाद हैं, अतः ये हमारी समाज की सदस्यता के परिणाम हैं।

6.2.1 अधिकारों का अर्थ

अधिकार दावे हैं, सामाजिक दावे व्यक्ति के व्यक्तित्व-विकास के लिए आवश्यक होते हैं। अधिकार मात्र उसी के हक नहीं हैं जो इन्हें अपने पास रखता है। प्राचीन और मध्य काल में कुछ लोग विशेषाधिकार प्राप्त थे। लेकिन इन विशेषाधिकारों को अधिकार का नाम नहीं दिया जा सकता। अधिकार, विशेषाधिकार नहीं होते क्योंकि ये पात्रता पर आधारित नहीं हैं। अधिकार और विशेषाधिकार में अंतर होता है; अधिकार वे दावे होते हैं जो वैसे ही हमें दूसरों पर मिलते हैं, जैसे दूसरों को हम पर; जबकि विशेषाधिकार हमें दूसरों को नकार कर मिलते हैं। अधिकार इस सन्दर्भ में सार्वभौमिक हैं कि ये सभी को सुनिश्चित किये जाते हैं, जबकि विशेषाधिकार सार्वभौमिक नहीं होते हैं और कुछ निश्चित लोगों को ही दिए जाते हैं। अधिकार व्यक्ति को हक के रूप में प्राप्त होते हैं; जबकि विशेषाधिकार संरक्षण के रूप में प्राप्त होते हैं। अधिकारों की उत्पत्ति एक लोकतान्त्रिक समाज में होती है; जबकि विशेषाधिकार अलोकतांत्रिक समाज के लक्षण हैं। जैफरसन ने उद्घोषणा की थी कि व्यक्ति अपने निर्माता द्वारा कुछ अनुलंघनीय अधिकारों से प्रदत्त है और यह दर्शाता है कि अधिकार प्राकृतिक होते हैं। उदाहरण के लिए मनुष्य के पास अधिकार हैं क्योंकि वह प्राकृतिक तौर पर मनुष्य है। ऐसे व्यक्ति को अधिकार है अथवा होना चाहिए इस सन्दर्भ में तथ्यात्मक रूप से कोई विवाद नहीं है। लेकिन यह तथ्य इससे अधिक या कम कुछ भी नहीं कहता। इस तथ्य में कोई परिभाषा नहीं दी गयी है। होलान्द परिभाषित करते हैं कि समाज के ताकत से दूसरे के कार्यों को प्रभावित करने की एक व्यक्ति की क्षमता अधिकार कहलाती है। उनकी परिभाषा अधिकार को मनुष्य की गतिविधि के रूप में परिभाषित करती है जिसे समाज ने प्रदान किया है, इसका आशय यह है कि होलान्द अधिकार को सिर्फ सामाजिक दावे के रूप में परिभाषित करते हैं। जबकि अधिकारों के अन्य पक्ष भी हैं, अधिकारों की किसी एक परिभाषा में उसे उचित स्थान नहीं प्राप्त हो पाता। वाइल्ड ने अधिकारों की अपनी परिभाषा में कहा है कि अधिकार सामाजिक दावों के पक्ष को अनौपचारिक उपचार प्रदान करते हैं; जब वे कहते हैं कि, "अधिकार, कुछ निश्चित गतिविधियों को करने के लिए आजादी हेतु औचित्यपूर्ण दावे हैं।" बोसांके और लास्की, अधिकारों की अपनी परिभाषा में समाज, राज्य और व्यक्ति के व्यक्तित्व का स्थान निर्धारण करते हैं, लेकिन वे भी अधिकारों

के अंग के रूप में दायित्व के महत्वपूर्ण पक्ष को नजर अंदाज कर देते हैं। बोसांके कहता है, "अधिकार एक दावा है जिसे समाज मान्यता देता है और राज्य लागू करता है।" लास्की के अनुसार, "अधिकार, सामाजिक जीवन की वे परिस्थितियां हैं जिनके बिना व्यक्ति सामान्य तौर पर अपने बेहतर स्वरूप को प्राप्त नहीं कर सकता।"

अधिकारों की कार्यात्मक परिभाषा में कुछ निश्चित पक्ष शामिल होने चाहिए। उनमें से, सामाजिक दावा का पक्ष एक है जिसका आशय है कि अधिकारों की उत्पत्ति समाज में होती है और इस कारण समाज से पूर्व, समाज से ऊपर और समाज के विरुद्ध अधिकारों का कोई अस्तित्व नहीं है। अधिकारों का एक अन्य पक्ष 'व्यक्तित्व का विकास' है, जिसका आशय है कि अधिकार व्यक्ति से सम्बंधित होते हैं और ये व्यक्ति के व्यक्तित्व विकास के महत्पूर्ण तत्त्व होते हैं– अधिकारों का यह पक्ष व्यक्ति को सरकार का विरोध करने का अधिकार देता है, यदि उसका कोई भी कार्य व्यक्ति के व्यक्तित्व के विरुद्ध हो। अधिकार की परिभाषा में 'अधिकारों के स्वरूप में राज्य की भूमिका' को सम्मिलित किया जाना चाहिए। यह पक्ष इस बात पर जोर देता है कि राज्य हमें अधिकार प्रदान नहीं करते बल्कि उसे बनाये रखते हैं। अधिकार इस कारण से अधिकार हैं क्योंकि वे राजनीतिक रूप से मान्यता प्राप्त हैं। अधिकार समाज द्वारा स्वीकृत दावे होते हैं इस कारण ये व्यक्ति के समाज के सदस्य के रूप में कर्तव्यों का अनुसरण करते हैं। कर्तव्य अधिकार के पहले आते हैं न कि उनके बाद। इस अर्थ में कि कर्तव्य अधिकारों से पूर्व हैं, इस आधार का निर्माण करते हैं कि अधिकार अपनी प्रकृति और प्रयोग में सीमित हैं। अधिकार निरंकुश नहीं होते, यह परिभाषा अपने आप में विरोधाभासी है। राफेल ने सही कहा है कि, स्वतंत्रता के रूप में अधिकार और दावे के रूप में अधिकार के बीच का अंतर सामाजिक और राजनीतिक सिद्धांतों के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण है।

6.2.2 अधिकारों की प्रकृति

अभी तक की चर्चा के आधार पर यह पहचानना अधिक आसान हो गया है कि अधिकारों के मूल में क्या है। अधिकारों का स्वभाव उनके नाम में ही निहित है। अधिकार केवल दावे नहीं है; अपितु वे दावों की प्रकृति में होते हैं। सभी अधिकार दावे होते हैं, परंतु सभी दावे अधिकार नहीं होते हैं। अधिकार, वे दावे होते हैं जिन्हें समाज के द्वारा अधिकार के रूप में मान्यता मिलती है। ऐसे पहचान के अभाव में अधिकार केवल दावे बन कर रह जाते हैं। एक व्यक्ति ऐसे किसी भी अधिकार का प्रयोग नहीं कर सकता जो समाज के द्वारा एक अधिकार के रूप में पहचाने नहीं गए हैं। हॉब हाउस के अनुसारः ''अधिकार वो हैं जो हम दूसरों से मांग सकते हैं तथा दूसरे हमसे, एवं सभी मौलिक वास्तविक अधिकार समाज कल्याण की शर्ते हैं। अतः आंशिक रूप से अधिकार वे दावे हैं जिनकी मांग कोई इसलिए कर सकता है क्योंकि वह उन कर्तव्यों के प्रति पालन के लिए अत्यंत आवश्यक हैं जो समाज उससे करने की आकांक्षा रखता है। अधिकार सामाजिक होते हैं; और वे सामाजिक इस सन्दर्भ में हैं क्योंकि उनका जन्म समाज में ही होता है। किसी भी कीमत पर ये सामाजिक हैं क्योंकि उनका जन्म समाज की उत्पत्ति के पूर्व नहीं हुआ था; एवं वे सामाजिक हैं क्योंकि उनका प्रयोग कभी भी समाज द्वारा अनुभव किये जाने वाले सामान्य-हित के विरुद्ध नहीं हो सकता।

अधिकार, एक सामाजिक दावे की तरह समाज में ऐसी परिस्थितियों का निर्माण करते हैं जो एक मनुष्य के सम्पूर्ण विकास के लिए आवश्यक है। ऐसी परिस्थितियों का निर्माण किया जाता है, उनको बनाया जाता है तथा उनको प्रदान किया जाता है। राज्य समाज से अलग होकर ऐसी परिस्थितियों का निर्माण करता है तथा उनको प्रदान करता है। राज्य ऐसी परिस्थितियों का निर्माण करके अधिकारों को संभव बनाता है। इस तरह से ऐसी स्थिति का

निर्माण होता है जिससे अधिकारों का सही मायने में प्रयोग किया जा सके। राज्य अधिकारों का निर्माता नहीं है, परंतु अधिकारों की सुरक्षा एवं प्रतिरक्षा करता है। यह राज्य की अधिकार शक्ति के अंदर नहीं है कि वह किसी व्यक्ति के अधिकार छीन सके। अगर राज्य ऐसी परिस्थितियों के निर्माण में सफल नहीं हो पाता है जिन परिस्थितियों में एक व्यक्ति अपने संपूर्ण विकास की दिशा में अधिकारों का प्रयोग करता है तो राज्य अपने प्रति संपूर्ण विश्वास के दावे को खारिज कर देता है। अधिकार एक प्रतिक्रिया है, उस समाज के प्रति जहां उनकी उत्पत्ति हुई है। किसी स्थान तथा समय में, किसी समाज में किन दावों को अधिकारों की स्थिति प्राप्त हुई है यह काफी हद तक उस समाज के नियमों तथा नीतियों पर निर्भर करता है। जैसे ही किसी समाज तथा उसकी परिस्थितियों में बदलाव आता है वैसे ही किन दावों को अधिकारों की स्थिति प्राप्त हुई है इन में भी बदलाव आता है। इसीलिए हम कहते हैं कि अधिकार सदैव बदलते रहते हैं। इसीलिए कभी भी अधिकारों की कोई ऐसी सूची नहीं बनाई जा सकती है जो आने वाले समय के अनुरूप भी सही बैठे। अधिकारों तथा शक्तियों को अलग-अलग समझना होगा। प्रकृति ने प्रत्येक मनुष्य को उसकी आवश्यकता की पूर्ति के लिए कुछ शक्तियां प्रदान की हुई हैं। शक्ति एक भौतिक पैमाना है; केवल शक्ति के आधार पर अधिकारों की प्रणाली नहीं बनाई जा सकती है। अगर किसी इंसान के पास शक्ति है तो इसका यह मतलब नहीं कि उसके पास अधिकार भी हैं। किसी भी इंसान के पास, स्त्री हो या पुरुष अधिकार होते हैं क्योंकि वह समाज का एक अंग है एक सामाजिक व्यक्ति है। एक व्यक्ति जो अकेला है, किसी समाज का अंग नहीं है, उसके पास कोई अधिकार नहीं है, परंतु उसके पास शक्ति, शारीरिक बल तथा कार्यक्षमता है। एक इंसान के तौर पर हमारे पास शारीरिक बल तथा शक्तियां हैं, परंतु एक सामाजिक व्यक्ति के तौर पर हमारे पास अधिकार होते हैं। उसी तरह से एक अकेले मनुष्य के तौर पर हमारे पास कोई अधिकार नहीं है तथा एक सामाजिक व्यक्ति के तौर पर हमारे पास वह शक्ति नहीं है – कुछ कहने के लिए तथा कुछ करने के लिए जो हम करना चाहते हो, कोई अधिकार नहीं है।

हम जो कुछ करते हैं, अधिकार उसकी प्रतिक्रिया हैं। अधिकारों का स्वभाव पारितोषिक तथा प्राप्ति का होता है। ये हमें तब दिए जाते हैं जब हम समाज अथवा दूसरों को भी वही अधिकार देते हैं जो हमारे पास हो। अधिकार केवल हमारे कर्तव्यों के परिणाम नहीं हैं, परंतु इस पर भी निर्भर करते हैं कि हम अपना कार्य कैसे कर रहे हैं। हम दूसरों के लिए जो अच्छे कार्य करते हैं उसके पारितोषिक के तौर पर भी हमें अधिकारों की प्राप्ति होती है, अधिकार पूर्ण रूप से निरंकुश नहीं होते हैं। समाज के एक सदस्य के रूप में व्यक्ति का कल्याण काफी हद तक निर्भर करता है वह अपने अधिकारों का समाज के हित के साथ कितना समन्वय बनाकर चलता है। अधिकारों की सूची को यह अवश्य संज्ञान में रखना चाहिए कि ऐसी कोई भी वस्तु निरंकुश और अनियंत्रित नहीं हो सकती, क्योंकि इससे समाज में अराजकता और अव्यवस्था उत्पन्न हो सकती है।

6.2.3 विभिन्न अधिकार

अधिकार, व्यक्ति के व्यक्तित्व विकास के लिए एक आवश्यक परिस्थिति हैं। व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास इस बात पर निर्भर करता है कि उसे कितने अधिकार उपलब्ध हैं। विभिन्न राजव्यवस्थाएं विभिन्न अधिकारों को मान्यता देती हैं। एक अमेरिकी को उपलब्ध अधिकार एक भारतीय को उपलब्ध अधिकारों से भिन्न होंगे। एक उदारवादी लोकतान्त्रिक समाज एक समाजवादी समाज की अपेक्षा विभिन्न अधिकारों को अधिक प्राथमिकता देगा। इस कारण से हमारे पास अधिकारों का एक वर्गीकरण हैः नैतिक, विधिक, नागरिक, राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक। वह अधिकार जिन्हें किसी देश के संविधान में

सम्मिलित किया जाता है वे मूलभूत अधिकार होते हैं। अधिकार चूँकि एक व्यक्ति के संपूर्ण विकास के लिए अत्यंत आवश्यक होते हैं, इसलिए प्रत्येक राज्य को अपने नागरिकों को कुछ अधिकार देने ही होंगे। मानवाधिकारों की सार्वजनीन उदघोषणा सभी राज्यों के लिए अधिकारों को अपने नागरिकों हेतु मान्यता प्रदान करने और बनाये रखने के लिए एक प्रेरणा स्त्रोत तथा एक कार्य-सूची की तरह कार्य करती हैं।

लोगों को उपलब्ध मुख्य अधिकारों के सामान्य ढांचे को निम्न रूप में संक्षेपित किया जा सकता हैः

जीवन का अधिकार एक मूलभूत अधिकार है, जिसके बिना अन्य अधिकारों का कोई महत्व नहीं रह जाता है। इस अधिकार का मतलब यह है कि राज्य लोगों के जीवन की रक्षा करने की जिम्मेदारी लेता है, किसी तरह की चोट के विरुद्ध भी संरक्षण, यहां तक कि आत्महत्या को भी एक अपराध माना गया है। समानता के अधिकार के कई पहलू हैंः 'कानून के समक्ष समानता' तथा 'कानून के द्वारा एक समान संरक्षण', किसी भी तरह के भेदभाव का निषेधः सामाजिक आर्थिक तथा राजनीतिक, संरक्षण के उद्देश्य से किया गया भेदभाव जो भारतीय संविधान में प्रदान किया गया है समानता के अधिकार का अविभाज्य अंग है। समानता के अधिकार की ही भांति स्वतंत्रता के अधिकार के भी कई पहलू हैंः अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, समूह बनाने की स्वतंत्रता, संघ बनाने की स्वतंत्रता, घूमने-फिरने की स्वतंत्रता, कहीं भी निवास करने की स्वतंत्रता, कोई भी कार्य करने की स्वतंत्रता, भारतीय समाज में जहाँ एक तरफ नागरिकों को यह अधिकार प्रदान किए गए हैं वहीं दूसरी तरफ उनको प्रयोग करते समय कुछ उचित प्रतिबंध भी प्रदान किए गए हैं। भारतीय संविधान धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार भी देता है। शिक्षा का अधिकार एक दूसरा अत्यंत ही महत्वपूर्ण तथा प्रमुख अधिकार है जिसके बिना एक व्यक्ति अपने चरित्र का संपूर्ण विकास करने में सक्षम नहीं होगा। अशिक्षित व्यक्ति एक अर्थ पूर्ण जीवन जीने में सक्षम नहीं हो सकता है। अशिक्षा एक सामाजिक अभिशाप है जिसको समाज से हटाना ही चाहिए। एक राज्य को शिक्षा का विस्तार करने की जिम्मेदारी लेनी चाहिए, कुछ आर्थिक अधिकारों में आजीविका के लिए कार्य करने का अधिकार, सामाजिक सुरक्षा का अधिकार, मनोरंजन का अधिकार तथा आराम करने का अधिकार शामिल है। कार्य करना तथा आर्थिक सुरक्षा के अधिकार के बिना एक व्यक्ति दूसरे अधिकारों का आनंद नहीं ले पाता है। संपत्ति रखने का अधिकार भी एक आर्थिक अधिकार है जिसका मतलब है किसी संपत्ति को अपने पास हमेशा के लिए रखना, उस पर हक जताना, तथा उसे अपनी आने वाली पीढ़ियों को देना। संपत्ति के अधिकार को एक उदार लोकतन्त्र में एक आवश्यक अधिकार माना गया है। एक व्यक्ति के पास कुछ राजनैतिक अधिकार भी होते हैं, ये वो अधिकार हैं जो एक व्यक्ति को पूर्ण नागरिक बनाते हैं, ऐसे अधिकारों में चुनाव में खड़े होने का अधिकार, राजनीतिक दल बनाने का अधिकार, आदि शामिल हैं।

भारत का संविधान अपने नागरिकों के लिए अधिकारों की एक सूची प्रदान करता है। इनको मूलभूत अधिकार कहा गया है और ये इस तरह से हैंः समानता का अधिकार, स्वतंत्रता का अधिकार, शोषण के विरुद्ध अधिकार, धर्म की स्वतंत्रता का अधिकार, सांस्कृतिक तथा शैक्षिक अधिकार, संवैधानिक उपचारों का अधिकार। अंतिम अधिकार एक बहुत ही महत्वपूर्ण अधिकार है क्योंकि यह अधिकार दूसरे सभी अधिकारों के मिलने का दायित्व लेता है। एक उदार प्रजातांत्रिक प्रणाली में राजनीतिक अधिकारों को सामाजिक अधिकारों के ऊपर तथा सामाजिक अधिकारों को आर्थिक अधिकारों के ऊपर महत्ता दी जाती है, एक समाजवादी समाज में इससे बिल्कुल विपरीत किया जाता है, वहां पर सर्वप्रथम आर्थिक फिर सामाजिक तथा उसके पश्चात राजनीतिक अधिकार आते हैं।

बोध प्रश्न 1

नोटः अ) अपने उत्तर के लिए नीचे दिये गये स्थान का उपयोग करें।

ब) अपने उत्तर को इकाई के अंत में दिये गये उत्तर से मिलायें।

1) दावों तथा अधिकारों के बीच का अंतर बताएं।

.....

.....

.....

.....

.....

6.3 अधिकारों के सिद्धांत

उत्पत्ति, अर्थ और प्रकृति की व्याख्या के सन्दर्भ में अधिकारों के अनेकों सिद्धांत हैं । प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धांत अधिकारों को मनुष्य की प्रकृति में निहित मानता है; विधिक अधिकारों का सिद्धांत अधिकारों की पहचान विधि रूप में करता है; अधिकारों का ऐतिहासिक सिद्धांत अधिकारों की उत्पत्ति रीतियों और परम्पराओं से मानते हैं। सामाजिक-कल्याण सिद्धांत के अनुसार अधिकारों का प्रयोग व्यक्ति और समाज दोनों के हित में किया जाता है। अधिकार अपने विकास-क्रम में इस प्रकार से हमारे सामने आये; जैसे– सम्विदावादियों के साथ नागरिक अधिकार, इतिहासविदों के लिए यह परम्पराओं का प्रतिउत्पाद हैं; न्यायविदों के लिए न्याय विधि द्वारा प्रदत्त हैं, लोकतंत्रवादियों के लिए ये राजनीतिक अधिकार हैं, समाजशास्त्री और बहुलवादी इसे सामाजिक अधिकार के रूप में मानते हैं, समाजवादी और मार्क्सवादी इसे सामाजिक-आर्थिक अधिकार के रूप में देखते हैं, जबकि संयुक्तराष्ट्र के समर्थक इसे मानव-अधिकार के रूप में देखते हैं। इस व्याख्या के माध्यम से हम जान सकते हैं कि अधिकार क्या हैं और ये हम तक कैसे आये हैं।

6.3.1 प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धांत

प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धांत का समर्थन मुख्य रूप से थॉमस हॉब्स (लेवियाथन 1651), जॉन लॉक (टू ट्रिटीज ऑन गवर्नमेंट 1690) और जे. जे. रूसो (द सोशल कॉन्ट्रैक्ट 1762) ने किया। इन समझौतावादियों ने सामाजिक-समझौता सिद्धांत के प्रतिपादन के दौरान यह विचार दिया कि प्राकृतिक-अवस्था में प्रत्येक व्यक्ति के पास प्राकृतिक अधिकार थे और ये अधिकार प्रत्येक व्यक्ति को इंसान होने की वजह से दिए गये थे। इसलिए समझौतावादियों ने यह घोषित किया कि ये अधिकार अविच्छेद्य, अगोचर और अपरिहार्य हैं। प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धांत की विभिन्न आधारों पर आलोचना की जाती है। अधिकार केवल इस आधार पर प्राकृतिक नहीं हो सकते कि वे प्राकृतिक अवस्था में व्यक्तियों को प्राप्त थे। समाज की उत्पत्ति के पूर्व वे कभी भी अधिकार नहीं हो सकते। समाजपूर्व अवस्था में अधिकारों कि उपस्थिति की अवधारणा अपने आप में विरोधाभाषी है। यदि प्राकृतिक-अवस्था में कुछ भी उपस्थित था तो वह था शारीरिक-बल, न कि अधिकार। कुछ प्राधिकारियों के द्वारा अधिकारों की रक्षा के लिए उन्हें पूर्वानुमानित कर लिया गया है। प्राकृतिक-अवस्था में राज्य उपस्थित नहीं था और राज्य की अनुपस्थिति में कैसे कोई व्यक्ति अधिकारों की उपस्थिति की कल्पना कर सकता था। आखिर प्राकृतिक-अवस्था में लोगों के अधिकारों की रक्षा कौन करेगा ? समझौतावादियों के पास इसका कोई जवाब नहीं है। यह अवधारणा कि

प्राकृतिक-अवस्था में अधिकारों की उपस्थिति थी, अधिकारों को समाज के नियंत्रण से बाहर और निरपेक्ष बना देती है। बेन्थम के अनुसार, प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धांत 'शब्दाडम्बरपूर्ण बकवास' हैं। लास्की ने भी प्राकृतिक अधिकारों के सम्पूर्ण विचार को अस्वीकार कर दिया है। प्राकृतिक अधिकार के रूप में अधिकारों की अवधारणा झूठी मान्यताओं पर आधारित है।

बर्क ने अधिक अर्थपूर्ण बात की ओर इशारा किया है कि हम एक ही समय में अधिकारों के नागरिक और गैरनागरिक स्वरूप का लाभ नहीं ले सकते हैं। तात्विक रूप में प्राकृतिक अधिकार जितने उत्तम हैं, अभ्यास के रूप में इन्हें पहचानना उतना ही कठिन है। अधिकार इस अर्थ में प्राकृतिक हैं कि वे एक ऐसी परिस्थिति हैं जिनमें व्यक्ति को स्वयं को अहसास करने की आवश्यकता होती है। लास्की के द्वारा अधिकारों के महत्व की अनुभूति का पता तब चलता है जब वह कहता है कि 'अधिकार इस अर्थ में प्राकृतिक नहीं हैं कि उन्हें स्थायी और अपरिवर्तनीय सूची में संकलित किया जा सकता है, बल्कि वे इस अर्थ में प्राकृतिक हैं कि नागरिक जीवन की सीमितताओं में तथ्य अपनी मान्यता की मांग करते हैं।

6.3.2 विधिक अधिकारों का सिद्धांत

विधिक अधिकारों का सिद्धांत और अधिकारों का विधिक सिद्धांत दोनों का अर्थ एक ही है। अधिकारों का आदर्शवादी सिद्धांत जो कि अधिकारों को राज्य की उत्पत्ति के रूप में मानता है, कम या अधिक रूप में विधिक अधिकारों के दूसरे रूप में माना जा सकता है। इन सिद्धांतों के समर्थकों में लास्की, बेन्थम, हीगल और ऑस्टिन का नाम लिया जा सकता है। इस सिद्धांत के महत्वपूर्ण लक्षण निम्न हैं:

i) राज्य अधिकार को परिभाषित करता है और अधिकारों पर बिल लेकर आता है। अधिकार न तो राज्य से पूर्व आते हैं और न ही पूर्वकालिक हैं। क्योंकि कि राज्य ही अधिकारों का स्रोत है।

ii) राज्य ही अधिकारों के कानूनी स्वरूप का निर्धारण करता है, अधिकारों की गारंटी देता है और राज्य ही अधिकारों के उपभोग को लागू करता है।

iii) कानून ही अधिकारों का निर्माण करते हैं और उन्हें बनाये रखते हैं, इसलिए जब कानून की सामग्री में परिवर्तन होता है तो अधिकारों के तत्व भी बदल जाते हैं।

हेरोल्ड लास्की (1893-1950, अंग्रेज लेबर पार्टी और एक राजनीतिक सिद्धान्तकार) के पास अधिकारों की व्यवस्था को लेकर एक निर्धारित दृष्टिकोण है जिसकी व्याख्या उन्होंने अपनी पुस्तक 'ए ग्रामर ऑफ पॉलिटिक्स' (प्रथम प्रकाशन 1925 में आया और उसके बाद उसका परिशोधित संस्करण हर वर्ष में दो बार आती रही) में प्रस्तुत है। अधिकारों की प्रकृति के सन्दर्भ में लास्की के विचार निम्नलिखित हैं:

i) अधिकार वे सामाजिक परिस्थितियां हैं जो एक व्यक्ति को समाज के सदस्य के रूप में प्रदान की जाती हैं।

ii) वे व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास में सहयोगी होते हैं। या फिर कहा जा सकता है कि वे सामाजिक परिस्थितियां जिनके बिना कोई भी व्यक्ति अपने सर्वोत्तम स्वरूप को नहीं पा सकता।

iii) वे सामाजिक इसलिए हैं कि वे कभी सामाजिक कल्याण के विरुद्ध नहीं हो सकतीं। समाज की उत्पत्ति के पूर्व इनका कोई अस्तित्व नहीं था।

iv) राज्य इन्हें बनाये रखते हुए, इन्हें पहचान देता है और इनकी रक्षा करता है।

v) अधिकार कभी निरपेक्ष नहीं होते। निरपेक्ष अधिकार विरोधाभाषी शब्द हैं।

vi) ये प्रकृति से परिवर्तनशील हैं, अतः समय, काल और परिस्थिति के अनुरूप उनमें परिवर्तन होता रहता है।

vii) ये कर्तव्यों के सहगामी हैं; असल में कर्त्तव्य अधिकारों से पूर्व आते हैं; अधिकारों के प्रयोग का तात्पर्य है, कर्तव्यों का प्रयोग। यदि लास्की अधिकारों के प्रदाता होते तो वे किसी व्यक्ति को अधिकार इस क्रम में देतेः काम का अधिकार, पर्याप्त मजदूरी का अधिकार, काम के उचित घंटे का अधिकार, शिक्षा का अधिकार, अपने शासक को चुनने का अधिकार और इनके बाद अन्य अधिकार।

लास्की का तर्क यह है कि आर्थिक अधिकारों को पहले दिए बिना कोई व्यक्ति अपने राजनीतिक अधिकारों का उपयोग नहीं कर सकता। आर्थिक समानता के बिना राजनीतिक समानता निरर्थक है। 'जहाँ घोर असमानता है, वहां व्यक्तियों के बीच सम्बन्ध दास और स्वामी का है। इसी के सामान महत्वपूर्ण परन्तु इसके निचले क्रम में स्थित है शिक्षा का अधिकार। शिक्षा किसी व्यक्ति को उसके अधिकारों के सदुपयोग करने में सहायता प्रदान करती है। एक बार आर्थिक और सामाजिक (शैक्षिक) अधिकारों से निबटान के बाद इसकी अत्यधिक संभावना हो जाती है कि व्यक्ति अपने राजनीतिक अधिकारों का प्रयोग ईमानदारी के साथ करेगा। आलोचकों का मत है कि राज्य निश्चित रूप से अधिकारों को सुरक्षा प्रदान करता है। लेकिन वह अधिकारों का निर्माण नहीं करता, जैसा कि इस सिद्धांत के समर्थक हमारा विश्वास बनाने की कोशिश करते हैं। यदि हम मान भी लेते हैं कि अधिकारों को राज्य ने बनाया है, तो हमें यह भी मानना पड़ेगा कि जिस प्रकार राज्य ने हमें अधिकार दिए हैं, वैसे ही वह हमसे ये अधिकार छीन भी सकता है। निश्चित तौर पर यह विचार राज्य को निरंकुश बना देगा और ऐसी परिस्थिति में हमारे पास सिर्फ वे अधिकार होंगे जो राज्य हमें देना चाहेगा ।

6.3.3 अधिकारों का ऐतिहासिक सिद्धांत

अधिकारों के ऐतिहासिक सिद्धांत को निदेशात्मक सिद्धांत भी कहा जाता है, इस बात को मानकर चलता है कि राज्य एक लम्बी ऐतिहासिक प्रक्रिया का परिणाम है। इसकी मान्यता है कि अधिकारों की उत्पत्ति रीतियों और परम्पराओं से हुई है। रुढ़िवादी बर्क का मानना है कि लोगों के पास अन्य सभी चीजों से ऊपर एक अधिकार होता है, जिसका प्रयोग वे समय की लम्बी यात्रा के बावजूद अबाध्य रूप से प्रयोग में लाते हैं। इसलिए माना जाता है कि प्रत्येक अधिकार एक लम्बे परिक्षण की प्रक्रिया पर आधारित होते हैं। रीतियों और परम्पराओं के माध्यम से लम्बे समय तक और लगातार प्रयोग में आने से ये स्थायी हो जाते हैं और अधिकारों का स्वरूप धारण कर लेते हैं। अठारहवीं शताब्दी में एडमंड बर्क की लेखनी के मध्य से इस सिद्धांत का उद्‌भव हुआ और बाद के काल में इसे समाजशास्त्रियों द्वारा स्वीकार कर लिया गया। ऐतिहासिक सिद्धांत का इस अर्थ में अत्यधिक महत्व है कि यह अधिकारों के विधिक सिद्धांत की आलोचना करता है। ऐतिहासिक सिद्धांत के समर्थकों का तर्क है कि जो लम्बे समय तक प्रयोग में होते हैं राज्य द्वारा उन्हें ही अधिकारों के रूप में मान्यता दे दी जाती है। ऐतिहासिक सिद्धांत की भी अपनी सीमाएं हैं क्योंकि हमारी सभी परम्पराएँ अधिकार का स्वरूप धारण नहीं कर सकतीं । सती-प्रथा और भ्रूणहत्या जैसी रीतियाँ अधिकार का हिस्सा नहीं हो सकतीं। हमारे सभी अधिकारों का उद्‌भव परम्पराओं के रूप में नहीं हुआ है। उदाहरण स्वरूप सामाजिक सुरक्षा का सिद्धांत किसी भी रीति या परंपरा का हिस्सा नहीं रहा है।

6.3.4 अधिकारों का समाज-कल्याण सिद्धांत

समाज-कल्याण सिद्धांत का मानना है कि अधिकार समाज-कल्याण की परिस्थिति होते हैं। इस सिद्धांत का तर्क है कि राज्य को केवल उन्हीं अधिकारों को मान्यता देनी चाहिए जो समाज-कल्याण को बढ़ावा देने में सहायता प्रदान करते हैं। समाज-कल्याण सिद्धांत के आधुनिक समर्थकों में रोस्को पौण्ड और चाफी का नाम लिया जा सकता है, जबकि बेन्थम को अठारहवीं शताब्दी के समर्थकों में गिना जा सकता है। इस सिद्धांत की मान्यता है कि समाज द्वारा उतने ही अधिकारों का निर्माण किया जाता है जितना कि समाज-कल्याण के अंतर्गत शामिल किया जाता है। अधिकार सामाजिक-हित की परिस्थितियां हैं, अर्थात् ऐसे दावे जो सामान्य-हित से नहीं जुड़े हैं और इस कारण समाज द्वारा मान्यता प्राप्त नहीं हैं, वे अधिकारों का स्वरूप धारण नहीं कर सकते। समाज-कल्याण सिद्धांत भी दोषमुक्त नहीं है। यह समाज-कल्याण को शामिल करता है जो कि अत्यंत ही अस्पष्ट अवधारणा है। बेन्थमवादी सिद्धांत 'अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख' अलग-अलग लोगों में भिन्नता लिए हुए है। जब अंततः राज्य ही निर्णयकर्ता हो जाता है कि किसे समाज-कल्याण मानना है, तो फिर इसमें और अधिकारों के विधिक सिद्धांत में कोई भिन्नता नहीं रह जाती है। वाइल्ड जैसे आलोचकों का मानना है कि यदि अधिकार सामाजिक-लाभ को ध्यान में रखकर ही बनाये गए हैं, तो एक अक्षम और असहाय व्यक्ति आततायी इच्छा पर निर्भर हो जाएगा।

6.3.5 अधिकारों का मार्क्सवादी सिद्धांत

अधिकारों के मार्क्सवादी सिद्धांत ने इतिहास के विशेष काल को आर्थिक-व्यवस्था के सन्दर्भ में समझा। एक विशेष सामाजिक-आर्थिक संरचना में विशेष प्रकार के अधिकारों की व्यवस्था होती है। राज्य, जोकि समाज के संपन्न लोगों के हाथ का उपकरण है, एक वर्गीय उपकरण है और यह जो कानून बनाता है वह भी वर्गीय हितों से प्रेरित होते हैं। इसलिए सामंती-राज्य सामंती कानूनों, अधिकारों की व्यवस्था की रक्षा (उदाहरण–विशेषाधिकार) के माध्यम से सामंती-व्यवस्था का पक्ष लेता है। इसी तरह पूंजीवादी राज्य पूंजीवादी कानूनी अधिकारों की व्यवस्था की रक्षा के माध्यम से पूंजीवादी व्यवस्था का पक्ष लेता है। मार्क्स के अनुसार जो वर्ग समाज की आर्थिक-संरचना को नियंत्रित करता है वह राजनीतिक-शक्ति पर भी नियंत्रण रखता है, और यह वर्ग इस राजनीतिक शक्ति का प्रयोग सर्व-समाज के हित में करने के बजाय अपने हितों की रक्षा करने और उसे बढ़ाने में करता है। जब पूंजीवादी समाज समाजवादी समाज में परिवर्तित हो जाता है, तो समाजवादी राज्य सर्वहारा कानूनों के माध्यम से मजदूर-वर्ग के अधिकारों/हितों की रक्षा और वृद्धि करता है। समाजवादी समाज, पूंजीवादी समाज की तरह न होकर एक वर्गविहीन समाज होता है। इसका राज्य और कानून किसी वर्ग विशेष के अधिकारों की रक्षा नहीं करता बल्कि वर्गविहीन समाज में रहने वाले सभी लोगों के अधिकारों की रक्षा करता है। मार्क्सवादी कहते हैं कि राज्य जोकि सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिवर्तन का उपकरण है, समाजवाद की स्थापना करेगा, जो कि 'सभी से उसकी योग्यता के अनुसार और सभी को उनके कार्य के अनुसार' के सिद्धांत पर आधारित है। सभी के लिए अधिकारों की व्यवस्था इस स्वरूप का अनुपालन करेगीः पहले आर्थिक अधिकार (कार्य, सामाजिक सुरक्षा), उसके बाद सामाजिक अधिकार (शिक्षा) और राजनीतिक अधिकार (मताधिकार)। अधिकारों का मार्क्सवादी सिद्धांत आर्थिक कारकों पर ज्यादा जोर देता है। आर्थिक कारक अकेले समाज को आधार प्रदान नहीं करते हैं और न ही अधिरचना केवल आर्थिक आधार का प्रतिरूप होती है। गैर-आर्थिक शक्तियां भी अधिरचना के निर्माण में निर्धारक भूमिका का निर्वहन करती हैं।

बोध प्रश्न 1

नोटः अ) अपने उत्तर के लिए नीचे दिये गये स्थान का उपयोग करें।

ब) अपने उत्तर को इकाई के अंत में दिये गये उत्तर से मिलायें।

1) प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धांत की चर्चा करें।

.....

.....

.....

.....

.....

2) अधिकारों की संकल्पना को मार्क्सवादी किस रूप में देखते हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

6.4 मानवाधिकार

एस. रामफल ने बिलकुल सही कहा है कि मानवाधिकारों का जन्म मनुष्य के लिए नहीं बल्कि मनुष्य के साथ हुआ है। ये संयुक्तराष्ट्र के प्रयासों के उतने अधिक प्रतिफल नहीं हैं जितने कि आधारभूत मानव गौरव के उद्‌भव के। ये मानवाधिकार इसलिए हैं क्योंकि ये मनुष्य को इसलिए प्राप्त हैं क्योंकि वह मनुष्य है। सामान्य तौर पर मानवाधिकार उन अधिकारों के रूप में परिभाषित किये जाते हैं जो हमारी प्रकृति में अंतर्भूत हैं और जिनके बिना हम मनुष्य के रूप में जीवित नहीं रह सकते। ये आवश्यक हैं क्योंकि ये हमारी मन की शक्ति, प्रतिभा और बुद्धिमत्ता को प्रयोग करने और विकसित करने में सहायता प्रदान करते हैं। जीवन के सन्दर्भ में मानवता की बढती मांग को ये आधार प्रदान करते हैं, जिसके अंतर्गत प्रत्येक मनुष्य में अंतर्भूत गौरव को न सिर्फ सुरक्षा मिलेगी और सम्मान भी प्राप्त होगा।

मानवाधिकार सभी संगठनों के मूल में अवस्थित होते है। वे संयुक्तराष्ट्र के सम्पूर्ण चार्टर में स्थित हैं। संयुक्तराष्ट्र चार्टर के प्रस्तावना में मूल मानवाधिकारों जैसे मानव के गौरव और मूल्य, स्त्री और पुरुष के समान अधिकार तथा छोटे या बड़े सभी राष्ट्रों के प्रति भी समानता का अधिकार आदि के प्रति आस्था का वचन-संकल्प लिया गया है। चार्टर में मानवाधिकारों के सार्वभौमिक विस्तार के सन्दर्भ में कुछ अनुच्छेद हैं यथा– 13, 55, 62, 68 और 76। 10 दिसम्बर 1948 को संयुक्तराष्ट्र की महासभा ने मानवाधिकारों की सार्वजनिक उद्‌घोषणा को अनुमोदित किया तथा 10 दिसंबर को मानवाधिकार-दिवस के रूप में मनाया जाता है। मानवाधिकारों की उद्‌घोषणा के अंतर्गत अनुच्छेद 30 हैं जिसके अंतर्गत् अनुच्छेद 3 से 15 तक पारंपरिक अधिकारों की सूची है। इन अधिकारों में जीवन, स्वतंत्रता और सुरक्षा का अधिकार, मनमानी गिरफ्तारी से मुक्ति, निष्पक्ष जाँच, विधि द्वारा समान संरक्षण, घूमने की आजादी, राष्ट्रीयता और आश्रय मांगने का अधिकार इत्यादि शामिल हैं। कुछ अन्य अधिकार

अनुच्छेद 16 से 21 के बीच शामिल हैं। इसके अंतर्गत् स्त्री-पुरुष के बीच समानता, विवाह करने और परिवार रखने का अधिकार, कुछ मूलभूत आजादी जैसे कि विचार और अभिव्यक्ति, शांतिपूर्ण सम्मलेन करने और संगठन बनाने का अधिकार, अपने देश में सरकार में शामिल होने का अधिकार इत्यादि शामिल हैं। अनुच्छेद 22 से 27 के अंतर्गत आर्थिक अधिकारों का प्रावधान है, जिसमें काम का अधिकार, बेरोजगारी के विरुद्ध प्रदर्शन, न्यायपूर्ण पारिश्रमिक, श्रमिक-संघ बनाने का अधिकार, विश्राम और अवकांश का अधिकार, जीवन के उचित मानक, शिक्षा और देश के सांस्कृतिक जीवन में सहभागिता आदि हैं। अनुच्छेद 28, 29, और 30 सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था को सुनिश्चित करता है, जिसके अंतर्गत् समुदाय के प्रति दायित्व एक व्यक्ति के व्यक्तित्व को मुक्त और सम्पूर्ण विकास को संभव बनाता है और इन अधिकारों की क्रमशः गारंटी देता है। मानवाधिकारों की सार्वजनीन उद्घोषणा असल में मानवाधिकारों के अंतर्राष्ट्रीय-प्रपत्र का प्रथम भाग है। इसके पश्चात् आर्थिक, सांस्कृतिक और सामाजिक अधिकारों पर अंतर्राष्ट्रीय प्रतिज्ञापत्र, नागरिक और राजनीतिक अधिकारों पर प्रतिज्ञापत्र एवं वैकल्पिक मसविदे आते हैं– इन सभी को 1966 में स्वीकार किया गया।

बोध प्रश्न 1

नोटः अ) अपने उत्तर के लिए नीचे दिये गये स्थान का उपयोग करें।

ब) अपने उत्तर को इकाई के अंत में दिये गये उत्तर से मिलायें।

1) अधिकारों की संकल्पना पर लास्की के क्या विचार हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

2) मानवाधिकारों पर संयुक्तराष्ट्र की उद्घोषणा में शामिल विभिन्न अधिकार क्या हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

6.5 सारांश

अधिकार एक मानव के व्यक्तित्व विकास के लिए आवश्यक सामाजिक दावे हैं । ये व्यक्तियों से सम्बंधित हैं, जो व्यक्तियों को अपने व्यक्तित्व के विकास में मद्द करते हैं। ये सामाजिक हैं जो समाज द्वारा प्रदत्त और राज्य द्वारा सुरक्षित हैं। यहाँ तक कि राज्य भी इन्हें व्यक्ति से दूर नहीं कर सकते। ये किसी भी समाज के विकास के एक विशेष स्तर को प्रदर्षित करते हैं। समाज के परिवर्तन के अनुरूप अधिकारों के चरित्र और तत्व में परिवर्तन होता रहता है। अधिकारों से सम्बंधित सिद्धांत इनके अर्थ, उद्भव और प्रकृति के आंशिक उपचार को प्रदर्षित करते हैं। प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धांत वहीं तक सही हैं जहाँ तक ये इस

बात पर जोर देते हैं कि अधिकार प्राकृतिक हैं, क्योंकि ये सामाजिक दावों की प्रकृति के रूप में हैं। इसी प्रकार विधिक अधिकारों के सिद्धांत वही तक सही बोलते हैं, जहाँ तक राज्य हमें अधिकारों की गारंटी देता है। अधिकारों के विभिन्न प्रकार हैं। वे अधिकार जो मानव को उपलब्ध हैं, उनमें शामिल हैं– जीवन, समानता, व्यक्ति और संपत्ति की सुरक्षा, स्वतंत्रता, शिक्षा, कार्य धार्मिक आजादी, मतदान और सार्वजानिक कार्यालयों में पद धारण करने का अधिकार । उदारवादी-लोकतान्त्रिक समाजों में आर्थिक और सामाजिक अधिकारों की अपेक्षा व्यक्तिगत और राजनीतिक अधिकारों पर अधिक जोर दिया जाता है। समाजवादी समाजों में अधिकारों को इसके उलट व्यवस्थापन का समर्थन किया जाता है। मानवाधिकारों की सार्वजनीन उद्घोषणा एक मनुष्य को मनुष्य के रूप में मानवाधिकारों की एक सूची उपलब्ध कराती है।

6.6 सन्दर्भ

बेलामी, रिचर्ड और मेसन, एंड्रू (2003). *पॉलिटिकल कॉन्सेप्ट्स*, मेनचेस्टरः मेनचेस्टर यूनिवर्सिटी प्रेस.

भार्गव, राजीव और अशोक आचार्य. (2008). *राजनीतिक सिद्धांतः एक परिचय.* नोएडा, पिअरसन.

लास्की, एच. (1925). *ए ग्रामर ऑफ पॉलिटिक्स.* ओक्सोन, रूटलेज.

स्क्रूटन, रॉजर. (2007). *द पल्ग्रेव मैकमिलन डिक्सनरी ऑफ पॉलिटिकल थॉट.* हैम्पशायरः पल्ग्रेव मैकमिलन.

विनोद, एम जे और एम देशपांडे. (2013). *कन्टेमपररी पॉलिटिकल थ्योरी.* नई दिल्लीः पीएचआई लर्निंग प्राइवेट लिमिटेड.

6.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) आपको उत्तर में यह व्याख्यायित करना है कि सभी दावे अधिकार नहीं होते।

बोध प्रश्न 2

1) आपके उत्तर का जोर इस बात पर होना चाहिए कि वे सभी अधिकार जो मनुष्य में अन्तर्निहित हैं प्राकृतिक अधिकार होते हैं।

2) इस बात को स्पष्ट करना कि अधिकार एक वर्गीय संकल्पना है और राजनीतिक अधिकारों पर सामाजिक-आर्थिक अधिकारों को प्राथमिकता मिलनी चाहिए।

बोध प्रश्न 3

1) आपका उत्तर लास्की के *ए ग्रामर ऑफ पॉलिटिक्स* में दिए क्रम और विश्लेषण पर आधारित होनी चाहिए।

2) संयुक्तराष्ट्र की उदघोषणा को देखें।